अनुक्रम

1. फूल और फूल और फूल -1 3
    - कथा-1 3
    - कथा-2 3
    - कथा-3 4
    - कथा-4 5
    - कथा-5 5
    - कथा-6 6
    - कथा-7 7
2. फूल और फूल और फूल -2 9
    - कथा-1 9
    - कथा-2 10
    - कथा-3 11
    - कथा-4 12
    - कथा-5 13
    - कथा-6 14
    - कथा-7 14
    - कथा-8 15
    - कथा-9 16
    - कथा-10 17
    - कथा-11 19
    - कथा-12 19
    - कथा-13 20
    - कथा-14 21
    - कथा-15 22
    - कथा-16 23
    - कथा-17 24
    - कथा-18 25
    - कथा-19 27
    - कथा-20 27
3. बोध कथाएं भाग -2 से ली गई कथा 29
4. मिट्टी के दीये 30
    - भूमिका 30

• दीपावली संदेश...30
• ओशो की हस्तलिपि में ‘सत्यं-शिवं-सुंदरं’ शीर्षक वाले संकलन से-- 31
5. संध्या के तारे...32
• 1 यह मनुष्य क्यों मर रहा है?...32
• 2 वह तो बस है!..34

फूल और फूल और फूल-1
(प्रवचनों से संकलित बोधकथाएं)
संकलनः अरविंद

कथा-1

मैं देखता हूं कि प्रभु का द्वार तो मनुष्य के अति निकट है लेकिन मनुष्य उससे बहुत दूर है। क्योंकि न तो वह उस द्वार की ओर देखता ही है और न ही उसे खटखटाता है।
और मैं देखता हूं कि आनंद का खजाना तो मनुष्य के पैरों के ही नीचे है लेकिन न तो वह उसे खोजता है और न ही खोदता है।

एक रात सुलतान महमूद घोड़े पर बैठकर अकेला सैर करने निकला था। राह में उसने देखा कि एक आदमी सिर झुकाए सोने के कणों के लिए मिट्टी छान रहा है। शायद उसकी खोज दिन भर से चल रही थी। क्योंकि उसके सामने छानी हुई मिट्टी का एक बड़ा ढेर लगा हुआ था। और शायद उसकी खोज निष्फल ही रही थी। क्योंकि यदि वह सफल हो गया होता तो आधी रात गए भी अपना कार्य नहीं जारी न रखता। सुलतान क्षणभर उसे अपने कार्य में डूबा हुआ देखता रहा और फिर अपना स्वर्णिम बहुमूल्य बाजूबंद मिट्टी के ढेर पर फेंक कर वायु वेग से आगे बढ़ गया। अगली रात वह फिर उसी राह से निकला तो उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उसने देखा कि वह आदमी अब भी उसी तरह मिट्टी छानने में मशगूल है। उसने उस आदमी से कहाः ‘पागल, कल तुझे जो बाजूबंद मिला, वह तो पूरी एक दुनिया खरीदने के लिए काफी है। फिर भी तू मिट्टी छानना बंद नहीं करता है?’
वह आदमी उत्तर में हंसा और बोलाः ‘आह! इसीलिए तो अब जीवन भर खोज जारी रखनी पड़ेगी। कल ऐसी बढ़िया चीज मिली, इसीलिए तो अब अथक खोजना आवश्यक हो गया है।’

मैं कहता हूं कि जो उसी आदमी की भांति सतत खोजना जारी रखता है, केवल वही और केवल वही परमात्मा के खजाने को उपलब्ध हो पाता है।
वह खजाना तो निकट है लेकिन मनुष्य खोदता ही नहीं है। वह द्वार तो सामने है लेकिन मनुष्य खोजता ही नहीं है।

कथा-2

जीवन बहुत उलझा हुआ है लेकिन अक्सर जो उसे सुलझाने में लगते हैं वे उसे और भी उलझा लेते हैं।
जीवन निश्चय ही बड़ी समस्या है लेकिन उसके लिए प्रस्तावित समाधान उसे
और भी बड़ी समस्या बना देते हैं।
क्यों? लेकिन एसा क्यों होता है?
एक विश्वविद्यालय में विधीशास्त्र के एक अध्यापक अपने जीवनभर वर्ष
के पहले दिन की पढ़ाई तखते पर ‘चार’ और ‘दो’ के अंक लिखकर प्रारंभ करते थे। वे दोनों अंकों को लिखकर विद्यार्थियों से पूछते थे: ‘क्या हल है?’
निश्चय ही कोई विद्यार्थी शीघ्रता से कहता: ‘छः!’
और फिर कोई दूसरा कहता: ‘दो!’
लेकिन अध्यापक को चुप सिर हिलाते देखकर अंततः अंतिम संभावना को सोचकर अधिकतम विद्यार्थी चिल्लाते ‘आठ’। लेकिन अध्यापक तब भी अपना अस्वीकार सूचक सिर हिलाते ही जाते थे!
और तब सन्नाटा छा जाता था क्योंकि और कोई उत्तर तो हो ही नहीं सकता था! फिर वे अध्यापक हंसते थे और कहते थे: ‘मित्रो, आप सभी ने अत्यंत आधारभूत प्रश्न ही नहीं पूछा तो हल कैसे संभव हो सकता है? आपने यही नहीं

जानना चाहा कि वस्तुतः समस्या क्या है? और जो समस्या को सम्यक रूप से जाने बिना ही समाधान जानने मैं लग जाता है, निश्चय ही वह समाधान तो पाता ही नहीं है और उल्टे समस्या को और उलझा लेता है।’

क्या यह बात सत्य नहीं है कि समस्या को जाने बिना ही समाधान खोज और पकड़ लिए जाते हैं; जबकि समाधान नहीं, महत्वपूर्ण सदा समस्या ही है। क्योंकि अंततः तो समस्या को उसकी समग्रता में जान लेना ही समाधान बनता है।
और गणित में एसी भूल हो तो हो लेकिन क्या जीवन में भी ऐसा ही नहीं होता है?
क्या वास्तविक समस्या को जाने बिना ही जब हम समाधान के लिए श्रम करने लगते हैं तो सारा श्रम व्यर्थ ही नहीं, आत्मघाती भी सिद्ध नहीं होता है? मित्र, समस्या को ही जो सही रूप में नहीं जानता है, वह यदि किसी अन्य
ही प्रश्न को प्रश्न जानकर हल करता हो तो भी आश्चर्य नहीं है।
क्या आपको उस जहाज़ के बाबत कुछ भी पता नहीं है, जो कि डूब रहा था; और कुछ लोग उसे डूबने से बचाने के लिए उस पर पालिश कर रहे थे। मैं तो सोचता हूँ कि आपको उस जहाज़ के संबंध में ज़रूर ही पता होगा, क्योंकि मैं तो आपको भी उस पर ही सवार देखता हूँ; और न केवल सवार ही देखता हूँ बल्कि यह भी देखता हूँ कि जहाज़ डूब रहा है और आप उसे बचाने के लिए उस पर पालिश करने में लगे हैं!
मित्र, वह जहाज़ जीवन का ही जहाज़ तो है।

कथा-3

एक वृद्ध मेरे पास आते हैं। वे कहते हैं: ‘नयी पीढ़ी बिल्कुल बिगड़ गयी है।’ यह उनकी रोज की ही कथा है।
एक दिन मैंने उनसे एक कहानी कही: ‘एक व्यक्ति के ऑपरेशन के बाद उसके शरीर में बंदर की ग्रंथियाँ लगा दी गयीं थीं। फिर उसका विवाह हुआ। और फिर कालांतर में पत्नी प्रसव के लिए अस्पताल गई। पति प्रसूतिकक्ष के बाहर उत्सुकता से चक्कर लगा रहा था। और जैसे ही नर्स बाहर आई, उसने हाथ पकड़ लिए और कहा: ‘भगवान के लिए जल्दी बोलो। लड़का या लड़की?’
उस नर्स ने कहा: ‘इतने अधीर मत होइए। वह पंखे से नीचे उतर जाये, तब तो बताऊं?’
वह व्यक्ति बोला: ‘हे भगवान! क्या वह बंदर है?’ और फिर थोड़ी देर तक वह चुप रहा और पुनः बोला: ‘नयी पीढ़ी का कोई भरोसा नहीं है। लेकिन यह तो हद हो गई कि आदमी से और बंदर पैदा हो?’
उसने यह सब तो कहा लेकिन एक बार भी यह नहीं सोचा कि यह नयी पीढ़ी आकस्मिक नहीं है और बंदर की ग्रंथियाँ स्वयं उसके शरीर में ही लगी हुई हैं जिनका कि यह स्वाभाविक परिणाम है। लेकिन पुरानी पीढ़ी नयी पीढ़ी को दोष देती है और नयी पीढ़ी फिर और नयी पीढ़ी को दोष देती है, और एसे वे ग्रंथियाँ सुरक्षित रही आतीं हैं जो कि मनुष्य की सारी विकृतियों के मूल में हैं। और यह क्रम सदा से चलता चला आ रहा है। पुरानी से पुरानी किताबें यही कहतीं हैं कि नयी पीढ़ी बिल्कुल बिगड़ गई है। लेकिन जब तक यह बात कही जाती रहेगी तब तक नई पीढ़ियाँ बिगड़ती ही रहेंगी। हाँ, किसी दिन जब कोई पीढ़ी इतनी समर्थ और साहसी और समझदार होगी कि कह सके कि ‘हमारी पीढ़ी ही रुग्ण और बीमार है’ तो शायद वह स्वयं की उन ग्रंथियों को खोज सके जो कि दुर्भाग्य की काली छाया की भाँति मनुष्य का पीछा कर रही हैं। और एक बार उन ग्रंथियों की खोज हो सके तो उनसे मुक्त होना कठिन नहीं है। वस्तुतः तो उन्हें जान लेना ही उनसे मुक्त हो जाना है।

कथा-4

प्रेम जिस द्वार के लिए कुंजी है। ज्ञान उसी द्वार के लिए ताला है।
और मैंने देखा है कि जीवन उनके पास रोता है जो कि ज्ञान से भरे हैं लेकिन प्रेम से खाली हैं।

एक चरवाहे को जंगल में पड़ा एक हीरा मिल गया था। उसकी चमक से प्रभावित
हो उसने उसे उठा लिया था और अपनी पगड़ी में खोंस लिया था। सूर्य की किरणों में चमकते उस बहुमूल्य हीरे को रास्ते से गुज़रते एक जौहरी ने देखा तो वह हैरान हो गया, क्योंकि इतना बड़ा हीरा तो उसने अपने जीवन भर में भी नहीं देखा था।
उस जौहरी ने चरवाहे से कहा: ‘क्या इस पत्थर को बेचोगे? मैं इसके दो पैसे दे सकता हूँ?’
वह चरवाहा बोला: ‘नहीं। पैसों की बात न करें। यह पत्थर मुझे बड़ा प्यारा है, मैं इसे पैसों में नहीं बेच सकूँगा। लेकिन, आपको पसंद आ गया है तो इसे आप ले लें। लेकिन एक वचन दे दें कि इसे सम्हालकर रखेंगे। यह पत्थर बड़ा प्यारा है!’
जौहरी ने हीरा रख लिया और अपने घोड़े की रफ़्तार तेज की कि कहीं उस चरवाहे का मन न बदल जाए और कहीं वह छोड़े गये दो पैसे न माँगने लगे! लेकिन जैसे ही उसने घोड़ा बढ़ाया की उसने देखा कि हीरा रो रहा है! उसने हीरे से पूछा: ‘मित्र रोते क्यों हो? मैं तो तुम्हारा पारखी हूँ? वह मूर्ख चरवाहा तो तुम्हें जानता ही न था।’
लेकिन यह सुन वह हीरा और भी ज़ोर से रोने लगा था और बोला था: ‘वह मेरे मूल्य को तो नहीं जानता था, लेकिन मुझे जानता था। वह ज्ञानी तो नहीं था। लेकिन प्रेमी था। और प्रेम जो जानता है, वह ज्ञान नहीं जान पाता है।’

कथा-5

सत्य की खोज में सम्यक निरीक्षण से महत्वपूर्ण और कुछ भी नहीं है। लेकिन, हम तो करीब करीब सोये-सोये ही जीते हैं, इसलिए जागरूक निरीक्षण का जन्म ही नहीं हो पाता है। जो जगत हमारे बाहर है, उसके प्रति भी खुली हुई आँखें और निरीक्षण करता हुआ चित्त चाहिए और तभी उस जगत के निरीक्षण और दर्शन में भी हम समर्थ हो सकते हैं जो कि हमारे भीतर है।

मैं आपको एक वैज्ञानिक की प्रयोगशाला में ले चलता हूँ। कुछ विद्यार्थी वहाँ इकट्ठे हैं और एक वृद्ध वैज्ञानिक उन्हें कुछ समझा रहा है। वह कह रहा है: ‘सत्य के वैज्ञानिक अनुसंधान में दो बातें सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं- साहस और निरीक्षण। इन दो को सदा स्मरण रखें और प्रयोग के तौर पर देखें: मेरे हाथ में नमक के घोल से भरा हुआ एक गिलास है। में इसमें अपनी एक अंगुली डालकर फिर उसे अपनी जीभ से लगाऊँगा। और जैसा मैं करूँगा, वैसा ही आपमें से भी प्रत्येक को बाद में करना है।’
उस वृद्ध ने घोल में अंगुली डाली और जीभ से लगाई। फिर प्रत्येक विद्यार्थी ने भी वैसा ही किया। वह वृद्ध तो घोल चखकर भी हंसता रहा लेकिन विद्यार्थियों को लगा जैसे उल्टी हो जाएगी। लेकिन साहस करना ज़रूरी था, सो उन्होंने साहस किया और उस घोल में डुबाई हुई उंगली को जीभ पर रखा। जब सारे विद्यार्थी ऐसा कर चुके तो वह वृद्ध वैज्ञानिक खूब हँसने लगा फिर बोला: ‘मेरे बेटो, जहाँ तक साहस की बात है, मैं तुम्हें पूरे अंक देता हूँ लेकिन निरीक्षण के विषय में तुम सब असफल रहे। क्योंकि तुमने नहीं देखा कि मैंने जो उंगली घोल में डुबाई थी, वही जीभ से नहीं लगाई थी!’

कथा-6

विचार से सत्य नहीं पाया जा सकता है। क्योंकि, विचार की सीमा है और सत्य असीम है।
विचार से सत्य नहीं पाया जा सकता है। क्योंकि, विचार ज्ञात है और सत्य अज्ञात है।
विचार से सत्य नहीं पाया जा सकता है। क्योंकि, विचार शब्द है और सत्य शून्य है।
विचार से सत्य नहीं पाया जा सकता है। क्योंकि, विचार एक क्षुद्र प्याली है और सत्य एक अनंत सागर है।

संत औगास्टिनस एक सुबह सागर तट पर था। सूर्य निकल रहा था और वह अकेला
ही घूमने निकल पड़ा था। अनेक रात्रियों के जागरण से उनकी आँखें थकी-मंदी थी। सत्य की खोज में वह करीब-करीब सब शांति खो चुका था। परमात्मा को पाने के विचार में ही दिवस और रात्रि कब बीत जाते थे, उसे पता ही नहीं पड़ता था। शास्त्र और शास्त्र, शब्द और शब्द, विचार और विचार- वह इनके ही बोझ के नीचे पूरी तरह दब गया था। लेकिन उस दिन सुबह सब कुछ बदल गया। उसका उस सुबह सागर तट पर घूमने आ जाना बड़ा सौभाग्यपूर्ण सिद्ध हुआ। वह गया था तो विचारों के बोझ से दबा था और लौटा तो एकदम निर्भार था। उसने सागर के किनारे एक छोटे से बच्चे को खड़े देखा जो कि अपने हाथ में एक छोटी-सी प्याली लिए हुए था और अत्यंत चिंता और विचार में डूबा था। स्वभावतः उसने उस बच्चे से पूछा: ‘मेरे बेटे, तुम यहाँ क्या कर रहे हो और किस चिंता में डूबे हुए हो?’

उस बच्चे ने औगास्टिनस की तरफ देखा और कहा: ‘चिंतित तो आप भी हैं। क्षमा करें और पहले आप ही अपनी चिंता का कारण बताएँ? हो सकता है कि जो मेरी चिंता है, वही आपकी भी हो? लेकिन आपकी प्याली कहाँ है?’
औगास्टिनस तो कुछ समझा नहीं और प्याली की बात से उसे हँसी भी आ गई। प्रगटतः उसने कहा: ‘मैं सत्य की खोज में हूँ। और उसी के कारण चिंतित हूँ।’ वह बच्चा बोला; ‘मैं तो इस प्याली में सागर को भरकर घर ले जाना चाहता हूँ, लेकिन सागर प्याली में आता ही नहीं है।’
औगास्टिनस ने यह सुना:‘में तो इस प्याली में सागर को भरकर घर ले जाना चाहता हूं लेकिन सागर प्याली में आता ही नहीं है।’ और उसे अपनी बुद्धि की प्याली भी दिखाई पड़ गई और उसे सत्य का सागर भी दिखाई पड़ गया। वह हंसने लगा और उस बच्चे से बोला: ‘मित्र, हम दोनों ही बच्चे हैं क्योंकि केवल बच्चे ही सागर को प्याली में भरना चाहते हैं।’
औगास्टिनस तो लौट गया और भूल गया प्याली को और उस सागर को। लेकिन वह बच्चा अभी भी सागर किनारे अपनी प्याली लिये चिंतित खड़ा है। उसे पता ही नहीं है कि हाथ की प्याली ही तो सागर से दूरी है। और एक ही बच्चा खड़ा हो तो कोई समझाये भी, पूरा सागर तट ही तो बच्चों से भरा है। वे अपनी-अपनी प्यालियां लिये हुए खड़े हैं, और रो रहे हैं कि सागर उनकी प्यालियों में नहीं समाता है। और कभी-कभी उस सागर तट पर इस बात पर भी संघर्ष हो जाता है कि किसकी प्याली बड़ी है और किसकी प्याली में सागर के समा जाने की सर्वाधिक संभावना है?
अब कौन उन्हें समझाये कि प्याली जितनी बड़ी हो, सागर के समाने की संभावना उतनी कम हो जाती है। क्योंकि बड़ी प्याली का अहंकार उसे छूटने ही नहीं देता है। और सागर तो उन्हें मिलता है जो प्याली को छोड़ने का साहस दिखा पाते हैं। हां, ऐसा भी कभी-कभी होता है कि उन थोड़े से लोगों में से भी कोई वहां पहुंच जाता है जिसने कि अपनी प्याली छोड़कर सागर को पा लिया है। लेकिन उस सागर तट के वासी ऐसे व्यक्तियों को बड़ी संदेह की दृष्टि से देखते हैं। यह बात उन्हें बिल्कुल ही असंभव मालूम होती है कि बिना प्याली के भी कभी कोई सागर को पा सकता है?

कथा-7

मैं जीवन में उन्हें हारते देखता हूँ जो कि जीतना चाहते थे। क्या जीतने की आकांक्षा हारने का कारण नहीं बन जाती है?
आँधी आती है तो आकाश को छूते वृक्ष टूट कर सदा के लिए गिर जाते हैं और घास के छोटे-छोटे पौधे आँधी के साथ डोलते रहते हैं और बच जाते हैं। पर्वतों से जल की धाराएँ गिरती हैं- कोमल, अत्यंत कोमल जल की धाराएँ
और उनके मार्ग में खड़े होते हैं विशाल पत्थर- कठोर शिलाखंड। लेकिन एक दिन पाया जाता है, जल तो अब भी बह रहा है लेकिन वे कठोर शिलाखंड टूट-टूटकर, रेत होकर एक दिन मालूम नहीं कहाँ खो गये हैं।
परमात्मा के मार्ग अनूठे हैं। और जीवन बहुत रहस्यपूर्ण है। इसलिए तो गणित के नियम जीवन के समाधान में बिल्कुल ही व्यर्थ भी हुए देखे जाते हैं।

कंफ्यूसियस मरणशय्या पर थे। उन्होंने अपने शिष्यों को बुलाया और कहा
: ‘मेरे बेटो, ज़रा मेरे मुँह में झाँककर तो देखो कि जीभ है या नहीं?’ निश्चय ही शिष्य हैरान हुए होंगे उन्होंने देखा और कहा: ‘गुरुदेव, जीभ है!’
कंफ्यूसियस ने पूछा: ‘और दाँत?’
उन्होंने कहा: ‘दाँत तो एक भी नहीं है!’
कंफ्यूसियस ने पूछा: ‘कहाँ गये दाँत? जीभ का जन्म तो हुआ था पहले और दाँतों का बाद में? फिर कहाँ गये दाँत?’
वे शिष्य अब क्या कहते? वे चुप एक-दूसरे का मुँह देखने लगे तो कंफ्यूसियस ने कहा: ‘सुनो, जीभ है कोमल, इससे आज तक मौजूद है। दाँत थे क्रूर और कठोर, इसी से नष्ट हो गये हैं!’
कंफ्यूसियस की यह अंतिम शिक्षा थी।
लेकिन, मैं इसे जीवन की पहली शिक्षा बनाना चाहता हूँ।

फूल और फूल और फूल-2
(चर्चाओं में संकलित बोध प्रसंग)
संकलनः अकलंक

कथा-1

एक मित्र ने पूछा है ‘समाज में इतनी हिंसा क्यों हैं?’20
हिंसा के मूल में महत्वाकांक्षा है। वस्तुतः तो महत्वाकांक्षा ही हिंसा है। मनुष्य चित्त दो प्रकार का हो सकता है। महत्वाकांक्षी और गैर-महत्वाकाक्षी। महत्वाकांक्षी-चित्त से राजनीति जन्मती है और गैर-महत्वाकांक्षी-चित्त से धर्म का जन्म होता है। धार्मिक और राजनैतिक-- चित्त के ये दो ही रूप हैं। या कहें कि स्वस्थ और अस्वस्थ।
स्वस्थ चित्त में हीनता नहीं होती है। और जहां आत्महीनता नहीं है, वहां महत्वाकांक्षा भी नहीं हैं। क्योंकि, महत्वाकांक्षा आत्महीनता के बोध को मिटाने के प्रयास से ज्यादा और क्या है? लेकिन, आत्महीनता ऐसे मिटती नहीं हैं और इसलिए महत्वाकांक्षा का कहीं अंत नहीं आता है। आत्महीनता का अर्थ है आत्मबोध का अभाव। स्वयं को न जानने से ही वह होती है।
आत्म-अज्ञान ही आत्महीनता है। क्योंकि जो स्वयं को जान लेता है, वह सब प्रकार की हीनताओं और महानताओं से मुक्त हो जाता है। ऐसी स्थिति ही स्वस्थ स्थिति है। स्वस्थ यानी स्वयं में स्थित। और जो स्वयं में नहीं है वही अस्वस्थ है। और जो स्वयं में नहीं होता है, वह निरंतर पर से तुलना में रहता है। पर से जो तुलना है, उसी से हीनभाव और फिर महत्वाकांक्षा का निर्माण होता है। और महत्वाकांक्षा द्वंद्व और हिंसा में ले जाती है। राजनीति इसका साकार रूप है। इसलिए ही राजनीति से विनाश फलित होता है। स्वस्थ चित्त से होता है सृजन। अस्वस्थ चित्त से विनाश। मनुष्य का दुख यही है कि वह अब तक राजनैतिक चित्त के घेरे में ही जिया है। और धार्मिक चित्त को हम पैदा नहीं कर पाए हैं। धर्म के नाम पर कई संगठन और संप्रदाय हैं, वे भी सब राजनैतिक ही हैं। इससे ही इतनी घृणा है, हिंसा है और इतने युद्ध हैं। और इससे ही जीवन इतना अशांत, अराजक और विक्षिप्त है।

एक छोटी सी नाव में बैठे तीन व्यक्ति विवाद कर रहे थे। उनकी चर्चा का विषय था कि पृथ्वी पर सबसे पहले उनमें से किसका व्यवसाय प्रारंभ हुआ? उनमें से एक सर्जन था, दूसरा इंजीनियर और तीसरा राजनैतिक। सर्जन ने कहा ‘बाइबिल कहती है कि ईव का निर्माण आदम की एक पसली को निकाल कर किया गया था। और क्या इससे यह सिद्ध नहीं हो जाता कि शल्य चिकित्सक का व्यवसाय सर्वाधिक प्राचीन है?’
इस पर इंजीनियर मुस्कुराया और बोला ‘नहीं, साहब, नहीं। उसके भी पूर्व जबकि सब ओर मात्र अराजकता थी, उस अराजकता में से ही पृथ्वी का निर्माण केवल छः दिनों में किया गया था। वह चमत्कार इंजीनियरिंग का ही था। और अब क्या और भी प्रमाणों की आवश्यकता है यह सिद्ध करने को कि मेरा ही व्यवसाय प्राचीनतम है?’
राजनीतिज्ञ अब तक चुप था। वह हंसा और बोला ‘लेकिन मेरे मित्र, यह भी तो बताओ कि अराजकता किसने पैदा की थी?’

वह अराजकता आज भी है। और उसको पैदा करने वाला चित्त भी है। और, शायद वह चित्त अपने चरम विकास को भी पहुंच गया है। वह चित्त युद्ध पर युद्ध पैदा करता आया है। कहते हैं कि विगत 3 हजार वर्षों में सारी पृथ्वी पर कोई 15 हजार युद्ध उसने पैदा किए हैं। और अब वह अंतिम युद्ध की तैयारी कर रहा है।

अंतिम इसलिए नहीं कि फिर मनुष्य युद्ध नहीं करेगा, अंतिम इसलिए कि फिर मनुष्य के बचने की कोई संभावना ही नहीं हैं।
लेकिन मैं पूछता हूं कि क्या मनुष्य को युद्धों से नहीं बचाया जा सकता है? क्या जागतिक आत्मघात अपरिहार्य है?
नहीं, मनुष्य को निश्चित ही बचाया जा सकता है। लेकिन सवाल युद्धों का नहीं, सवाल राजनैतिक चित्त से मुक्ति का है। राजनैतिक चित्त से मुक्त हुए बिना मनुष्यता इस अस्वस्थ स्थिति से मुक्त नहीं हो सकती है।

कथा-2

मैं एक छोटे से गांव में गया था। वहां एक नया मंदिर बन कर खड़ा हो गया
था और उसमें मूर्ति प्रतिष्ठा का समारोह चल रहा था। सैकड़ों पुजारी और संन्यासी इकट्ठे हुए थे। हजारों देखने वालों की भीड़ थी। धन मुक्तहस्त से लुटाया जा रहा था। और सारा गांव इस घटना से चकित था। क्योंकि जिस व्यक्ति ने मंदिर बनाया था और इस समारोह में जितना धन व्यय किया था, उससे ज्यादा कृपण व्यक्ति भी कोई और हो सकता है, यह सोचना भी उस गांव के लोगों के लिए कठिन था। वह व्यक्ति कृपणता की साकार प्रतिमा था। उसके हाथों एक पैसा भी कभी छूटते नहीं देखा गया था। फिर उसका यह हृदय परिवर्तन कैसे हो गया था? यही चर्चा और चमत्कार सबकी जुबान पर था। उस व्यक्ति के द्वार पर तो कभी भिखारी भी नहीं जाते थे। क्योंकि वह द्वार केवल लेना ही जानता था। देने से उसका कोई परिचय ही नहीं था। फिर यह क्या हो गया था? जो उस व्यक्ति ने कभी स्वप्न में भी न किया होगा, वह वस्तुतः आंखों के सामने होते देख कर सभी लोग आश्चर्य से ठगे रह गए थे।
एक वृद्ध ने मुझसे भी पूछा ‘इसके पीछे रहस्य क्या है? क्या वह व्यक्ति बिल्कुल बदल गया है?’

मैंने उत्तर में एक घटना बताईः
एक छोटे से बच्चे ने रूपए का एक सिक्का गटक लिया था। उसे निकालने के लिए सब उपाय व्यर्थ हो गए थे। उसकी मां अपने पति से बार-बार कह रही थी ‘जल्दी करो और चिकित्सक को बुलाओ।’ पति ने एक-दो बार सुना और वह सिक्का निकालने की कोशिश करते-करते ही बोला ‘चिकित्सक? नहीं। मैं सोचता हूं कि धर्मगुरु को ही बुला लेना कहीं ज्यादा उचित है?’
पत्नी तो हैरान हो गई और बोली ‘धर्मगुरु? क्या तुम सोचते हो कि मेरा बच्चा बच नहीं सकेगा, जो धर्मगुरु को बुलाना चाहते हो?’
पति ने कहा ‘नहीं। इसलिए नहीं। बल्कि इसलिए कि किसी से भी रूपया निकलवा लेने में धर्मगुरुओं से ज्यादा कुशल और कोई नहीं होता है।’

फिर मैंने कहा ‘यह मत सोचना कि उस व्यक्ति का लोभ समाप्त हो गया। उसने मुझसे भी जानना चाहा है कि मंदिर बनवाने का परलोक में क्या फल होता है? यह सब दान-धर्म भी उसके लोभ का ही फैलाव है। यह उसकी पूर्व-वृत्ति का विरोध नहीं, वरन उसका ही और विस्तार है। जीवन हाथ में होता है तो लोभ धन जोड़ता है। और जब मृत्यु निकट आती है तो लोभ धर्म जोड़ता है। यह सब एक ही चित्त का खेल है। धर्मगुरु लोभ को नई दिशा दे देते हैं। वे धर्म के सिक्कों का प्रलोभन खड़ा कर देते हैं।
और मरता क्या न करता! लोभ की तृप्ति का और कोई मार्ग न देख वह अदृश्य सिक्कों को ही इकट्ठा करने में लग जाता है। निश्चय ही इसके लिए धर्मपुरोहितों को बदले में दृश्य सिक्के देने पड़ते हैं। ऐसे धर्मगुरु धन जोड़ते हैं और तथाकथित धार्मिक हो गया व्यक्ति धर्म जोड़ता है। और मृत्यु से लौट कर चूंकि कभी कोई नहीं आता, इसलिए यह पता भी नहीं चल पाता है कि खोए दृश्य सिक्कों के बदले में अदृश्य सिक्के मिलते भी हैं या नहीं?

और इस कारण धर्मगुरु का व्यवसाय अखंड बना रहता है। मृत्यु धर्मगुरु
की बड़ी सहयोगिनी है। वही उसके धंधे का मूलाधार है। उसकी छाया में ही उसका शोषण चलता है।
वह व्यक्ति जरा भी नहीं बदला है। केवल उसके हाथों से जीवन बह चुका है।
वह बूढ़ा हो गया है और मृत्यु की पद-ध्वनि उसे सुनाई पड़ने लगी है। और यह तो सर्वविदित ही है कि जहां मृत्यु है वहां धर्मगुरु है। वे तो मृत्यु के व्यवसायी ही हैं।’

कथा-3

एक अद्भुत स्वप्न मैंने देखा हैः
मैं एक भिखारी हूं और एक धनपति के द्वार पर खड़ा हूं। वह व्यक्ति अकूत धनराशि का मालिक है। लेकिन मुझसे भी बड़ा अगर कोई भिखारी है तो वही है। क्योंकि उसके पास सब कुछ होते हुए भी कुछ भी नहीं हैं। उसकी धन की भूख का अंत ही नहीं हैं। धन उसे प्राणों से भी अधिक प्यारा है। वह उसके लिए प्राण खो सकता है, लेकिन प्राणों के लिए भी धन खोने का विचार नहीं कर सकता।
कहते हैं कि एक बार जंगल में उसे डाकुओं ने पकड़ लिया था और उससे पूछा
था कि प्राण बचाने हैं या धन? तो उसने कहा था ‘प्राणों का मूल्य ही क्या है! और धन है तो सब कुछ है। आप प्राण ले लो लेकिन धन नहीं--धन बुढ़ापे में काम आता है।’
आह! ऐसा है वह व्यक्ति, और मैं उसके द्वार पर भीख मांगने खड़ा हूं। यह आशा के विपरीत ही आशा करना है।
और जो भीख मांगनी है, वह भी अजीब है। मैं केवल उसके पास स्वर्ण की जो अकूत राशि है, उसे देखना भर चाहता हूं। क्या वह इसके लिए राजी होगा? अब तक उसकी स्वर्णराशि देखने में कोई भी समर्थ नहीं हो सका है। लेकिन शायद मैं सफल हो जाऊं, क्योंकि उसे राजी करने की विधि भी मैं अपने साथ लेता आया हूं। एक स्वर्ण मुद्रा मेरे पास है। वह मुझे वर्षों पहले कहीं पड़ी हुई मिल
गई थी। उसे मैं रोज देख लेता हूं और खुश हो लेता हूं। बस यही उसका उपयोग है; जैसा कि सभी स्वर्ण मुद्राओं का होता है। और इसलिए मैंने सोचा है कि यदि इस स्वर्ण मुद्रा के बदले में उस धनपति की अकूत स्वर्ण मुद्राएं मुझे देखने को मिल जाएं तो मैं उन्हें इकट्ठी ही देख लूं और खुश हो लूं। सदा देखने के रोग से भी छुटकारा हो और इस एक स्वर्ण मुद्रा को सम्हालने की चिंता से भी मुक्ति मिले।
और जैसा कि मैंने सोचा था, वही हुआ है। मुझे देखते ही द्वार बंद कर लिए
गए हैं। वह धनपति बूढ़ा स्वयं ही द्वार बंद कर रहा है। लेकिन, मैंने अपनी स्वर्ण मुद्रा निकाल कर सीढ़ियों पर पटक दी है। उसकी ध्वनि से बंद द्वार पुनः खुल गए हैं। वह बूढ़ा उस मुद्रा को बहुत ललचाई हुई आंखों से देख रहा है। और फिर सौदा तय हो गया है। वह उस स्वर्ण मुद्रा के बदले में अपने खजाने में मुझे ले जाने को तैयार हो गया है।
उसने सोचा हैः मैं केवल देखना ही तो चाहता हूं। और मात्र देखने के बदले में एक स्वर्ण मुद्रा पा लेनी, शत-प्रतिशत लाभ का सौदा है!
वह मुझे अपने तलघर में ले जाता है। निश्चय ही अकूत स्वर्ण उसके पास है। मेरी तो आंखें ही उस स्वर्ण पर नहीं टिक रही हैं। फिर मैं सब देख कर हंसने लगा। तो उस बूढ़े ने पूछा हैः ‘क्यों? हंसते क्यों हो?’
मैंने कहा है ‘मित्र, अब मेरे पास भी उतना ही धन है जितना कि आपके पास है।’
वह बूढ़ा चौक गया है और पूछ रहा हैः ‘यह कैसे हो सकता है! भिखारी तो हो ही--कहीं पागल भी तो नहीं हो?’
मैंने कहाः ‘आप इस धन का क्या उपयोग करते हैं? ज्यादा से ज्यादा इसे देखने का ही न! अब मैंने भी इसे देख लिया है--जी भर कर देख लिया है। तो क्या अब मैं भी उतना ही धनी नहीं हूं जितने कि आप हैं?’

चलते-चलते मैंने उस बूढ़े से पुनः कहा हैः ‘ठीक से सोचना कि भिखारी कौन
है और पागल कौन है?’
वह बूढ़ा रो रहा है और फिर हंस भी रहा है।
उसने अपना खजाना खुला ही छोड़ दिया है।
और यह क्या... वह मेरे साथ ही हो लिया और कह रहा हैः ‘मैं अब न भिखारी हूं और न पागल ही हूं।’

और आश्चर्य से मेरी नींद खुल जाती है। और मैं सोचता ही रह जाता हूं कि
वह व्यक्ति स्वप्न में इस भांति स्वस्थ हो सका तो क्या जाग्रत में जो विक्षिप्त हैं, वे स्वस्थ नहीं हो सकते हैं?

कथा-4

परमात्मा ने मनुष्य को अपनी ही शक्ल में बनाया था। ऐसा मैंने सुना है। लेकिन, मनुष्य को देख के ऐसा प्रतीत होता है कि यह अफवाह भी मनुष्य की ही उड़ाई हुई है।
क्योंकि मनुष्य तो परमात्मा से जितना प्रतिकूल हो सकता है, उतना ही प्रतिकूल है।
या यह भी हो सकता है कि परमात्मा ने तो मनुष्य को अपने ही अनुरूप बनाया हो लेकिन बाद में मनुष्य ने उसमें सुधार कर लिया हो!
मनुष्य में परमात्मा की चीजों में सुधार कर लेने की गहरी बीमारी जो है। और इसे ही वह प्रगति कहता है।
यह भी कहा जाता है कि परमात्मा ने मनुष्य को देवताओं से थोड़ा ही नीचे बनाया था। शायद, इस नीचे होने को प्रारंभ मानकर वह नीचे से नीचे जाते-जाते इतना नीचे पहुंच गया है कि अब पशु भी कहीं ऊंचे पड़ गए हैं।
मनुष्य ने स्वयं ही अपनी दुर्गति भलीभांति कर ली है।
और उसने यह सब इतनी बुद्धिमत्ता से किया है कि परमात्मा भी शायद उसे दोषी नहीं ठहरा सकता है।
इसलिए शायद परमात्मा स्वयं को ही दोषी मान कर कहीं छिप गया है। दोषी
वह है भी। मनुष्य को बनाने का दोष तो उसके ऊपर है ही! और मनुष्य इसके लिए कभी भी माफ नहीं कर सकता।
मनुष्य इसलिए ही परमात्मा से कई तरह के बदले लेता रहा है। स्वयं के विनाश में भी वह अपने सृष्टा से बदला ही ले रहा है।
वह पशु नहीं बनाया गया है, इसका बदला भी वह पशु से बदतर बन कर ले रहा है।

एक अद्भुत घटना मुझे स्मरण आती हैः
एक आदमी ने किसी पहाड़ी होटल के मालिक को लिख कर पूछा था कि क्या उसका कुत्ता भी उसके साथ होटल में ठहर सकता है?
उसे लौटती डाक से निम्न उत्तर उपलब्ध हुआः
प्रिय महानुभाव,
मैं होटल के व्यवसाय में विगत 30 वर्षों से हूं। और कुत्तों के संबंध में मेरा अनुभव अत्याधिक सुखद है। होटल में ठहरे किसी भी कुत्ते के कारण आज तक मुझे कभी पुलिस को नहीं बुलाना पड़ा है। आज तक किसी कुत्ते ने शराब पीकर भी होटल में कोई उत्पात का दृश्य खड़ा नहीं किया है। और न ही किसी कुत्ते ने मुझे झूठा चेक या जाली रूपए पकड़ा कर ही धोखा दिया है। न ही किसी कुत्ते ने धूम्रपान से होटल की किसी चीज को जलाया है। और न कोई कुत्ता किसी दूसरे की पत्नी को भगाकर यहां आकर ठहरा है। और न ही अब तक मैंने किसी कुत्ते के सूटकेस में होटल का कोई सामान ही पाया है। स्वभावतः कुत्ते के प्रति मेरे मन में बहुत श्रद्धा है और मैं आपके कुत्ते का हार्दिक स्वागत करता हूं।

पुनश्चः और यदि आपका कुत्ता आपके संबंध में भी भले आदमी होने का प्रमाण पत्र देने को राजी हो तो आप भी उसके साथ यहां आ सकते हैं।

कथा-5

अधर्म सदा ही धर्म की आड़ खोजता है। ऐसे उसे सुरक्षा मिल जाती है।
खोटे सिक्के असली सिक्कों के नाम के बिना एक इंच भी तो नहीं चल सकते हैं!
परमात्मा के मंदिर हैं लेकिन उनमें आवास शैतान का है। शैतान ने बहुत पहले ही स्वयं को छिपाने की पूरी आयोजना कर ली है। कौन जाने दीए तले अंधेरा इसलिए ही छिपता हो कि ऐसे वह भी प्रकाश समझा जा सकता है!
असत्य सत्य के वस्त्र अकारण ही तो नहीं ओढ़ता है?
और घृणा प्रेम के शब्द व्यर्थ ही तो नहीं बोलती है?

मैंने सुना हैः
एक साधु सत्य पर बोल रहा था। उसने अपने प्रवचन के प्रारंभ में ही कहाः ‘मित्रो! मेरा आज का विषय हैः सत्य। और इसके पूर्व कि मैं बोलना शुरू करूं मैं एक बात आपसे जान लेना चाहता हूं कि आप में से कितने व्यक्तियों ने मैथ्यू का 69 वां अध्याय पढ़ा है?’
उस सभा भवन में जितने भी व्यक्ति थे, उनमें से केवल एक को छोड़ कर सबने अपने-अपने हाथ स्वीकृति में ऊपर उठा दिए थे। वह साधु इस पर हंसा था और बोला थाः ‘ठीक है। मित्रो, ठीक है! आप ही वे लोग हैं जिनसे मुझे बोलना है। क्योंकि मैथ्यू का 69 वां अध्याय जैसा कोई अध्याय ही नहीं हैं।’
और जब सभा समाप्त हो गई तो वह साधु उस व्यक्ति के पास गया था जिसने कि हाथ ऊपर नहीं उठाया था। निश्चय ही वह व्यक्ति अद्भुत था। क्योंकि ऐसे धार्मिक और सच्चे व्यक्ति धर्मसभाओं में कहां उपलब्ध होते हैं?
साधु ने उससे पूछाः ‘मित्र! यहां कैसे आ गए? ऐसे व्यक्ति तो धर्म-मंदिरों में कभी दिखाई नहीं पड़ते हैं। और आप में बड़ा नैतिक साहस है--आप भीड़ से भिन्न सत्य के पक्ष में भी हो सकते हैं! आपने असत्य हाथ नहीं उठाया, मैं इसके लिए आपका धन्यवाद करता हूं।’
वह आदमी डरा हुआ था। बोलाः ‘क्षमा करिये। मैं असल में सो गया था। अन्यथा ऐसे कैसे हो सकता था कि मैं हाथ न उठाता। मैं तो सदा सबके साथ हूं।’

कथा-6

मैं मनुष्य के संबंध में सोचता हूं तो मुझे एक घटना याद आ जाती हैः
एक छोटे से बच्चे अलबर्ट के बाबत उसके बाल मंदिर के सारे अधिकारी चिंतित थे। वह जो भी बनाता था, सदा काले रंग में ही उसे रंगता था। वह काली गायें बनाता, काले मनुष्य, काले कुत्ते और काले मकान और एक दिन तो उसने एक काला सागर बनाया था जिसकी काली लहरें काले ही तट से टकरा रहीं थी। यही नहीं, ऊपर भी काला सूरज था और उसमें काली किरणें निकल रहीं थीं। चित्र में सभी कुछ काला ही काला था। और पहचानना भी कठिन था कि क्या-क्या है?
इससे उसके अध्यापकों का विचार में पड़ जाना स्वाभाविक ही था। क्योंकि, काले रंग का यह अतिशय मोह जरूर ही चित्त की किसी दुखी और उदास स्थिति का द्योतक था।
उस बच्चे की गृहस्थिति की खोजबीन की गई, लेकिन वहां तो सब कुछ ठीक था। उसके साथियों से पूछा गया लेकिन कोई भी कारण नहीं मिलता था। वह तो सब भांति सामान्य और स्वस्थ था।

और तब अंततः एक मनोवैज्ञानिक से सलाह ली गई। मनोवैज्ञानिक ने सभी तरह
के परीक्षण और विश्लेषण किए, लेकिन परिणाम कुछ भी न निकला। उसमें दुख या उदासी या आत्मविनाश की कोई भी वृत्ति न थी।
और अंततः जब वे थक कर सब निराश ही हो गए थे तो एक दिन उन्होंने काले रंग के प्रति मोह का कारण उससे ही पूछा; तो वह बोला कि मेरी रंग की डब्बी के सारे रंग खो गए हैं और केवल काला रंग ही मेरे पास शेष बचा है!

क्या ऐसा ही मनुष्य के संबंध में भी तो नहीं हो गया है? उसके ऊपर न मालूम क्या-क्या थोपा जाता रहा है और उसके संबंध में न मालूम कितने-कितने प्रकार के ऊहापोह और अनुमान किए जाते रहे हैं।
धर्मों ने, दर्शनों ने, विचारकों ने उसकी उसकी स्थिति के लिए क्या- क्या नहीं कहा है और उसे बदलने के लिए क्या-क्या योजनाएं नहीं प्रस्तुत की हैं।
समाज और राज्य भी उसे बदलने और बनाने के लिए क्या-क्या नहीं कर चुके हैं।
लेकिन एक बात सदा ही भूली जाती रही है। मनुष्य से स्वयं उसके संबंध में किसी ने भी कुछ नहीं पूछा है।

कथा-7

विश्व युद्ध के बादल आकाश में हैं। और वे रोज घने से घने होते जा रहे हैं। मनुष्यता किसी बड़ी दुर्घटना के करीब है। और इस दुर्घटना में समस्त जाति की समाप्ति भी हो सकती है। लेकिन, हम ऐसे चले जा रहे हैं कि जैसे कहीं कोई खतरा ही नहीं हैं। और शायद हमारी यह बेहोशी ही सबसे बड़ा खतरा है। और हम बेहोशी में भी आंखें बंद कर लेने की सलाह देने वाले मार्गदर्शक भी हैं। एक साधु से मैं यह कह रहा था। वे हंसे थे और बोले थेः ‘संसार तो ऐसे ही चलता रहता है। बस अपनी आंखें बंद कर लो। आंखें बंद कर लेने में ही सुख है।’ आह! यह सुख कितना महंगा पड़ा है। और ऐसे सुख लेने वालों के ही कारण जीवन
अब कितना दुखमय है।
यह सुख है या कि निद्रा है?
यह सुख है या कि सुरा है?
यह सुख अफीम के नशे से कहां भिन्न है?
निश्चय ही मार्क्स ऐसे धर्म को ‘अफीम का नशा’ कहने में अक्षरशः सही था।
जीवन से भागने वालों के लिए आंख बंद कर लेना बहुत पुराना उपाय है। शुतुरमुर्ग भी इस उपाय को जानता है और संन्यासी भी जानते हैं। शुतुरमुर्ग शत्रु को देख रेत में मुंह गाड़ लेता है और सोचता है कि शत्रु नहीं हैं। उसके लिए न दिखाई पड़ना, न होने का सबूत हो जाता है।
और संन्यासी का भी तर्क क्या यही नहीं हैं?
और शराबी का भी तर्क क्या यही नहीं हैं?

एक मधुशाला से आधी रात गए दो मित्र बाहर निकले थे। वे दोनों खूब पिये हुए थे। वे अपनी कार में आ कर बैठे और घर की ओर चले। उनमें से ही एक कार चला रहा था। कार तीर की भांति सड़कों को चीरते हुए भाग रही थी। जरूर ही वे 60-70 की रफ्तार पर थे। दूसरे साथी ने घबड़ा कर कहाः ‘यह क्या कर रहे हो? क्या दुर्घटना करनी है? मेरा तो साहस छूटा जा रहा है।’ लेकिन चलाने वाले ने कहाः ‘घबड़ाने की क्या जरूरत है? मैं जैसे आंख बंद किए हूं वैसे ही तुम भी कर लो। आंखें बंद कर लेने से घबड़ाकर बिल्कुल ही नहीं मालूम होती है। और बड़ा सुख मिलता है।’

जीवन से आंखें बंद कर लेना आत्मघाती पलायन है। यह धर्म नहीं हैं।

धर्म पलायन नहीं है। धर्म तो जीवन पर विजय है। और विजय ने भागने वालों
को कब वरा है?
जीवन का अत्यंत जागरूकता से, खुली आंखों से, सामना करना ही धर्म है। धर्म जब तक आंखें बंद करने वाला है, तब तक वह अधर्म की शरण है। आंखें बंद कर लेने की शिक्षा ने जगत को जितना नुकसान पहुंचाया है, उतना और किस ने पहुंचाया है?
वह शिक्षा बेहोशी और निद्रा की शिक्षा है।
और बेहोशी में मनुष्य वृक्ष की उन्हीं शाखाओं को काटता रहा है जिन पर
कि वह बैठा है।
जीवन के प्रति चाहिए होश--चेतना--जागरूक बोध, क्योंकि तभी हम स्वयं को परिवर्तित कर सकते हैं। धर्म की क्रांति सचेतन व्यक्तित्व में ही फलित हो सकती है।
और व्यक्ति है इकाई। वह बदले तो ही समाज भी बदल सकता है। इसलिए, मैं व्यक्ति को आंखें बंद कर लेने को नहीं, वरन उन्हें पूर्णतया खोलने को कहता हूं। क्योंकि, मैं पृथ्वी पर अंधों का नहीं, आंख वालों का समाज देखना चाहता हूं।

कथा-8

जीवन की सबसे बड़ी विडम्बना क्या है? क्या यही नहीं कि मनुष्य को यह भी पता नहीं है कि वह कौन है? और स्वयं को न जानना, जीवन को ही न जानना है। और अपरिचित जीवन भी क्या जीवन है? अंधेरे में किसी भी भांति जिये जाने का नाम तो जीवन नहीं है। जीवन तो ज्ञान के प्रकाश में ही वस्तुतः जीवन बनता है। मैं जब स्वयं को जानता हूं, तभी मैं हूं। अन्यथा मेरा होना या न होना बराबर ही है।
ज्ञान अस्तित्व को अर्थ देता है।
और अज्ञान है अर्थहीनता। अज्ञान में अर्थवत्ता हो भी कैसे सकती है?
जिसे मैं जानता ही नहीं हूं, वह अर्थवान या साभिप्राय कैसे हो सकता है? और जो अर्थहीन है वह अरुचिकर हो जाता है। वह ऊब बन जाता है। वह व्यर्थ और कोरी पुनरुक्ति प्रतीत होने लगता है। और इस अर्थहीन पुनरुक्ति से मुक्त होने का मन हो तो क्या कोई आश्चर्य है?
लेकिन यह मुक्ति दो प्रकार की हो सकती है। यह मुक्ति आत्मघात की दिशा
ले सकती है या आत्म साधना की। आत्मघात में जीवन का अंत करने की तत्परता होती है और आत्म साधना में जीवन को जानने की।
अतंतः मनुष्य के सामने दो ही विकल्प हैंः या तो स्वयं को समाप्त करो
या स्वयं को जानो।
कामू ने ठीक ही कहा है कि आत्मघात ही मनुष्य के लिए सबसे बड़ी दार्शनिक समस्या है।
लेकिन समाप्त करना क्या कोई हल है? और अर्थहीन जीवन की समाप्ति में कौन सा अर्थ हो सकता है? वह भी तो अर्थहीन हो गया! वह विकल्प मिथ्या है। वह स्वयं को जानने से बचने का ही उपाय है। वह तो जीवन की समस्या से आत्यंतिक पलायन है। तथाकथित संन्यास भी आंशिक रूप से आत्मघाती जीवन दृष्टि का ही प्रयोग है।
वास्तविक दिशा है आत्म साधना की, आत्म ज्ञान की। उससे अर्थहीनता विलीन हो जाती है और जीवन अपनी पूर्ण अर्थवत्ता में प्रकट होता है। जो मनुष्य, या जो युग आत्मज्ञान की दिशा खो देता है वह अनिवार्यतः आत्मघात में संलग्न हो जाता है।
क्या हम एक ऐसे ही युग में नहीं रह रहे हैं?

न्यूयार्क के एक ऊंचे भवन की 17 वीं मंजिल से एक युवक कूदने को तैयार खड़ा था। 16 वीं मंजिल पर भीड़ इकट्ठी थी और उसे समझा रही थी। लेकिन वह

आत्महत्या के लिए बिल्कुल ही सन्नद्ध था। एक अत्यंत वृद्ध व्यक्ति ने उससे कहा ‘बेटे, अपने मां-बाप का तो विचार करो।’
वह युवक बोला ‘न मेरी मां है, न बाप है।’
वृद्ध ने कहा ‘तो अपनी पत्नी और बच्चों का ख्याल करो।’
युवक ने कहा ‘न पत्नी हैं, न बच्चे हैं।’
लेकिन वृद्ध हार मानने को राजी न था। उसने कहा ‘तो अपनी प्रेयसी का तो ध्यान रखो।’
वह युवक चिल्लाया ‘मैं स्त्रियों को घृणा करता हूं।’
अतंतः हार कर वृद्ध ने कहा ‘तो अपना ही विचार करो।’
और उसको पता है कि उस युवक ने क्या कहा? उसने कहाः ‘काश! मुझे यही पता होता कि मैं कौन हूं!’

कथा-9

हम घने अंधकार में हैं। और यह अंधकार रोज-रोज बढ़ता ही जाता है। और आश्चर्य तो यही है कि अपने ही हाथों से इसे हम बढ़ाते हैं। आलोक से विमुख हो जाने का यह परिणाम है। सूर्य की ओर हम पीठ देकर खड़े हैं। जीवन के पथ पर धर्म है सूर्य, और जो धर्म की ओर पीठ कर लेता है वह अपने ही हाथों अंधकार में डूबा जाता है।

किसी द्वार पर एक शब्द-कोष बेचने वाला विक्रेता खड़ा था। वह शब्द-कोष बिना बेचे उस द्वार से हटने को राजी न था। गृहणी ने उसे टालने को कहा ‘बंधु, मुझे शब्द-कोष नहीं चाहिए। शब्द-कोष मेरे पास है। देखते नहीं हैं, वह सामने ही मेज पर रखा हुआ है।’
इस पर वह विक्रेता हंसा और बोलाः ‘देखें, आप मुझे मूर्ख न बना सकेंगी।
वह शब्द-कोष नहीं, धर्मशास्त्र है।’
गृहणी तो जैसे हैरान रह गई। बात सत्य थी। वह धर्मशास्त्र ही था! एक क्षण तो वह कुछ पूछ ही न सकी। फिर सम्हल कर उसने कहाः ‘यह आप कैसे कह सकते हैं?’
वह विक्रेता बोलाः ‘देवी जी, यह बतलाना एकदम आसान है। ग्रंथ पर इकट्ठी धूल से क्या सब कुछ स्पष्ट नहीं हो जाता है?’

धर्म उपेक्षित है। और धर्म पर हमारी उपेक्षा की धूल जम गई है। और परिणाम है हमारा रास्ता अंधकार पूर्ण हो गया है।
धर्म पर से उपेक्षा की धूल झाड़नी है। और जैसे ही कोई यह कर पाता है, वैसे ही उसका जीवन आलोकित हो जाता है। लेकिन यह प्रत्येक को ही स्वयं के लिए करना होता है। मैं यह आपके लिए नहीं कर सकता हूं। क्योंकि, उपेक्षा आपकी है। वह आपकी दृष्टि है। उसे आपने ही निर्मित किया है और आप ही उसे नष्ट कर सकते हैं।
धर्म प्रकाश है। लेकिन वह प्रकाश उसे ही उपलब्ध होता है, जो कि उसे स्वयं में द्वार देता है।
मैं उपेक्षा से भरा हूं तो वह द्वार बंद है। और मैं जिज्ञासा में हूं
तो वह द्वार खुल जाता है। वस्तुतः जिज्ञासा ही द्वार है। और उपेक्षा का जन्म या जिज्ञासा की हत्या दो प्रकार से होती है। एक है अंधी आस्तिकता, जो आंख बंद करके सब कुछ स्वीकार कर लेती है। और दूसरी है अंधी नास्तिकता, जो कि आंख बंद कर सब कुछ अस्वीकार कर देती है। और अंधेपन में जिज्ञासा कहां? खोज कहां?
अंधी आस्तिकता और अंधी नास्तिकता, दोनों ही जीवन सत्य के प्रति उपेक्षा बन जाती हैं। सत्य के प्रति जिज्ञासा तो केवल उसमें ही होती है जो कि न अंध स्वीकार में है, न अंध अस्वीकार में; वरन जानने को सदा ही स्वतंत्र, उन्मुख और उत्सुक है। ऐसे चित्त के द्वार बंद नहीं होते हैं। ऐसा चित्त खुला चित्त है। और खुले चित्त में सत्य का आगमन होता है।

सत्य ही धर्म है।
सत्य ही प्रकाश है।
सत्य ही प्रभु है।

कथा-10

मैं कौन हूं? क्या इसका कोई समुचित उत्तर आपके पास है?
नहीं, मित्र! नहीं है। नहीं है। नहीं है।
क्योंकि, जो स्वयं को जान लेता है, वह सत्य को उपलब्ध हो जाता है। क्योंकि, जो स्वयं को जान लेता है, वह आनंद को उपलब्ध हो जाता है। क्योंकि, जो स्वयं को जान लेता है, वह अमृत को उपलब्ध हो जाता है।
लेकिन फिर भी जीवन यात्रा में हमारा अपना परिचय तो है ही! मैं यह हूं
या वह हूं। मैं राजा हूं या रंक। इस पद पर हूं या उस पद पर। शिक्षित हूं या अशिक्षित। मेरा यह नाम है या वह। यह उपाधि है या वह। ऐसा ही कुछ जोड़-तोड़ हमारा परिचय है। निश्चय ही यह परिचय बहुत ऊपरी है और इससे वह बिल्कुल अस्पर्शित ही रह जाता है जो कि मैं हूं।
वह कौन है जो मैं हूं--यह तो हमें ज्ञात नहीं हैं, लेकिन उसने जो वस्त्र पहन रखे हैं, उनसे हमारी पहचान जरूर है। और वस्त्रों की हम पहचान को ही हम स्वयं का जानना माने हुए हैं। इससे ही इन वस्त्रों की इतनी रक्षा की जाती है, क्योंकि इनके खो जाने पर हम स्वयं को पहचान भी तो नहीं सकते हैं!
आह! क्या इस भांति वस्त्र ही हमारी आत्मा नहीं बन गए हैं? क्या हम मात्र वस्त्र ही हैं?

मैंने सुना है कि एक बार एक व्यक्ति के सभी वस्त्र खो गए थे तो वह यह
भी नहीं पहचान सका था कि वह वही है। वह बेचारा आखिर पहचानता भी कैसे? क्योंकि, वह जिसे जानता था, वह तो खो गए वस्त्रों का जोड़ ही था! और वह स्वयं को तो जानता ही नहीं था, सो पहचानता कैसे? पहचानने के पूर्व जानना तो जरूरी है न?
प्रत्यभिज्ञा तो केवल उसकी ही हो सकती है, जिसका कि पूर्वज्ञान है।
यह हमारी स्थिति है।
लेकिन, इस पर हम हंसेंगे नहीं--क्योंकि यह स्थिति हमारी जो है!

और, अब मैं आपको एक घटना सुनाता हूं, उस पर आप जरूर ही हंसेंगे। क्योंकि वह घटना आपकी जो नहीं हैं!
एक सोए शेखचिल्ली के द्वार पर आधी रात में दो पुलिस के सिपाही दस्तक
दे रहे थे। बहुत मुश्किल से घर के वासी ने द्वार खोला। द्वार खुलते ही उन सिपाहियों में से एक ने कहाः ‘मित्र माफ करना। हमने तुम्हें व्यर्थ ही तकलीफ दी। गांव के बाहर एक व्यक्ति की मृत-देह मिली है और हमें शक था कि कहीं वह तुम तो नहीं हो? लेकिन भगवान को धन्यवाद कि तुम कुशल हो। अच्छा, हम जाते हैं।’
लेकिन, शेखचिल्ली ने बहुत घबड़ा कर कहाः ‘ठहरो! क्या तुमने उसे ठीक से देख लिया था? उसकी उम्र कितनी है?’
‘करीब-करीब तुम्हारे जितनी ही।’
‘और उसकी लंबाई?’
‘इतनी ही जितनी कि तुम्हारी है।’
‘और क्या वह लाल टोपी पहने हुए है?’
‘हां’
‘हे भगवान! और क्या नीली कमीज भी?’ ‘नहीं।’
‘आह! तब वह मैं नहीं हूं!’

मैं देख रहा हूं कि आप हंस रहे हैं।
लेकिन, मित्र, किस पर हंस रहे हैं? क्या वह शेखचिल्ली आप ही नहीं हैं? सोचें।
सोचें।
सोचें।

कथा-11

ज्ञान क्या है? केवल वही जो कि स्वानुभव है।
वह नहीं है ज्ञान जो कि सीखा जाता है, बल्कि वह है जो कि जाना जाता है।
और सीखने और जानने में आकाश-पाताल का अंतर है। सीखा जाता है औरों से। जाना जाता है स्वयं से। और, औरों से सीखा गया भीतर नहीं जाता। वह बाहर का है और इसलिए बाहर ही रह जाता है। वह स्मृति को तो भरता है लेकिन जीवन उससे अछूता ही रह जाता है। उससे अज्ञान तो मिटता ही नहीं है। उल्टे, अहंकार और फलीभूत हो जाता है। और अज्ञान पर अहंकार वैसे ही है जैसे करेला और वह भी नीम चढ़ा। वह रोग पर और महारोग है।
इसीलिए मैं कहता हूं कि शास्त्र से, शब्द से या अन्य से सीखे गए ज्ञान
का कोई भी मूल्य नहीं हैं; क्योंकि वस्तुतः वह ज्ञान ही नहीं हैं।
ज्ञान वह है, जो कि स्वयं के साक्षात से जन्मता है। शेष सब बासे और मृत शब्दों का संग्रह है।
ज्ञान है जीवंत और ताजी अनुभूति, इसलिए वह अनिवार्यतः जीवन को बदलती है। उसके आलोक में जीवन स्वतः ही बदल जाता है। यही उसके स्वयं से जन्मे होने की कसौटी भी है।
जीवन न बदले तो जानना, कि जो जाना है वह ज्ञान नहीं है।
जीवन सत्य न हो उठे तो जानना कि जो जाना है वह स्वयं से नहीं हैं।
जीवन परमात्मा में प्रतिष्ठित न हो जाए तो जानना कि जो जाना है, वह ज्ञान नहीं, अज्ञान ही है।

क्या आपको ज्ञात है कि एक बार नर्क के अंतःवासियों ने स्वर्ग के निवासियों को धर्म-शास्त्रार्थ के लिए चुनौती दी थी?
नहीं। शायद आपको पता नहीं हैं। और आप आश्चर्य भी कर रहे हैं क्योंकि धर्म-शास्त्र पर नर्क के निवासियों का अधिकार ही क्या है!
शैतान के शिष्यों की इस चुनौती से ऐसा ही आश्चर्य देवताओं को भी हुआ था। और उन्होंने उनसे कहा था ‘क्या पागल हो गए हो? क्या तुम्हें ज्ञात नहीं है कि सभी धार्मिक व्यक्ति स्वर्ग में हैं? और ऐसी किसी भी प्रतिस्पर्धा में तुम्हारी हार पूर्व से ही सुनिश्चित है। हां, राजनीति शास्त्र पर विवाद के लिए तुम्हारे आमंत्रण में कोई अर्थ हो भी हो सकता है!’ ‘वह तो ठीक है,’ शैतान के शिष्यों ने कहा ‘लेकिन, क्या आपको पता है कि पंडितगण कहां है? धर्म के जानने वाले होंगे स्वर्ग में लेकिन धर्म शास्त्र के जानकार तो सब हमारे पास हैं।’

कथा-12

मैं आपके मन को जीवन के प्रति अत्याधिक शिकायत से भरा देखता हूं। यह चित्त दशा शुभ नहीं हैं। क्योंकि इस भांति जीवन के समस्त आनंदों से आप व्यर्थ ही वंचित रह जाते हैं। जीवन तो प्रत्येक के द्वार पर आनंद की भेंट लाता है लेकिन जो द्वार बंद होते हैं, वे उस भेंट को पाना तो दूर, जान भी नहीं पाते हैं। और ऐसे चित्त के पास अंत में आंसुओं के अतिरिक्त और कुछ भी शेष न रह जाता हो तो आश्चर्य ही क्या है?

एक छोटे से बच्चे ने भोजन करना करीब-करीब बंद कर दिया था। वह सूख कर हड्डी हो गया था। वह हर प्रकार के भोजन में कोई न कोई शिकायत खड़ी कर देता था। अंततः मां-बाप घबड़ा गए। उस बच्चे की अपेक्षाएं पूरी करना कठिन नहीं, असंभव ही हो गया था। सो वे उसे एक मनोचिकित्सक के पास ले गए। उस मनोवैज्ञानिक ने बड़े-बड़े बीमार ठीक किए थे। और पागलों का तो वह सबसे बड़ा चिकित्सक और विशेषज्ञ था। उसने उस बच्चे के मां-बाप को धैर्य बंधाया और कहाः ‘घबड़ाएं न। शीघ्र ही सब ठीक हो जाएगा।’ और फिर उसने बच्चे के सामने अच्छे से अच्छे, स्वादिष्ट से स्वादिष्ट खाद्य पदार्थ बुलवाए, लेकिन वह बच्चा अद्भुत शिकायतों का धनी था कि उसने चिकित्सक की एक न चलने दी और अपनी हठ पर दृढ़ रहा। अंततः मनोवैज्ञानिक ने उससे ही पूछाः ‘बेटे, तुम्हीं बताओ कि तुम्हें क्या खाना है? वह जहां से भी उपलब्ध होगा, हम लाने को तैयार हैं।’
बच्चे ने शांति से कहाः ‘केंचुए।’
मनोवैज्ञानिक तो हैरान ही रह गया फिर भी वह हार मानने को राजी नहीं था
और बगीचे से केंचुए इकट्ठे करके लाया। फिर केंचुओं की प्लेट उस छोटे से भोजन-शत्रु के सामने रख कर उसने कहाः ‘लो! खाओ।’
लेकिन, बच्चे के चेहरे पर मनचाहे केंचुए पा कर भी कोई प्रसन्नता न थी। उसने पुनः कहाः ‘मैं तले हुए केंचुए चाहता हूं।’
वह बेचारा मनोवैज्ञानिक केंचुए तल कर लाया। लेकिन, उस छोटे से आलोचक
ने कहाः ‘मुझे केवल एक ही केंचुआ चाहिए।’
मनोवैज्ञानिक ने एक केंचुआ बचाकर, शेष सारे फेंककर उससे कहाः ‘लो! अब खाओ।’
लेकिन बच्चे ने पुनः कहाः ‘आधा आप खाइए।’
मनोवैज्ञानिक के सामने और भी बड़ी कठिनाई आ गई। लेकिन वह किसी भी भांति उस बच्चे को संतुष्ट करना चाहता था ताकि वह अस्वीकारवादी थोड़ा शिथिल पड़ सके और भोजन के लिए राजी हो सके। उसने आंखें बंद करके और परमात्मा का नाम लेकर किसी भांति आधा केंचुआ भी गटक लिया। और शेष आधा केंचुआ बच्चे के सामने रखा इस आशा से कि अब तो वह प्रसन्न होगा और उन दोनों के बीच समझ का कोई सेतु बन सकेगा। लेकिन नहीं, वह भूल में था। क्योंकि, बच्चा आधे केंचुए को देखकर जोर से रोने लगा।
उस मनोचिकित्सक ने घबड़ा कर पूछाः ‘क्यों, अब क्या मामला है?’
वह रोता हुआ बच्चा बोलाः ‘आपने मेरे हिस्से का आधा केंचुआ खा लिया है।’

जीवन में ऐसी दृष्टि दुख लाती है।
यह दुख को--सतत दुख को आमंत्रण है।

कथा-13

एक बगीचे में दो युवा धर्म पुरोहित बैठे हुए थे। वे बगीचे में घूमते हुए धूम्रपान करना चाहते थे। और इसके लिए गुरु की आज्ञा लेनी जरूरी थी। सो वे दोनों गए। पहला युवक लौटा तो उसने देखा कि दूसरा पहले ही आ गया है और धूम्रपान कर रहा है। उसने आते ही क्रोध से कहाः ‘मुझे आज्ञा नहीं दी गई है।’
दूसरे युवक ने उसे शांति से देखा और पूछाः ‘तुमने पूछा क्या था?’
उसने कहाः ‘मैंने पूछा था कि क्या मैं ईश्वर-मनन करते हुए धूम्रपान कर सकता हूं?’
इस पर दूसरा युवक हंसने लगा और धुआं उड़ाते हुए बोलाः ‘आह! मैंने पूछा
था कि क्य मैं धूम्रपान करता हुआ ईश्वर-मनन कर सकता हूं?’

जीवन जो हमें देता है, वह उससे हमारे लेने की पात्रता पर ही निर्भर है। अंततः प्रत्येक व्यक्ति ही उस सबके लिए जिम्मेवार है, जो कि वह पाता है या कि नहीं पाता है।
और जीवन के प्रति हमारे दृष्टिबिंदु में थोड़ा सा ही भेद, स्वर्ग और नर्क का भेद बन जाता है।
मैं पूछता हूंः ‘क्या यह सत्य नहीं हैं?’
और मेरे मित्र, उत्तर किसी शास्त्र में मत खोजना। उत्तर खोजना स्वयं
के जीवन में। वहां उत्तर है। प्रत्येक का जीवन ही क्या उत्तर नहीं है? मैं स्वर्ग में हूं या नर्क में--क्या यह मुझ पर ही निर्भर नहीं है? और मैंने जीवन से क्या पूछा था, यह नहीं; बल्कि कैसे पूछा था--सभी कुछ इसी पर निर्भर है। उस ‘कैसे’ में ही तो मेरी जीवन-दृष्टि है। वही तो मेरा जीवन-दर्शन है। और वही मेरे लिए दुख या आनंद, अंधकार या आलोक, नर्क या स्वर्ग बन जाता है।

कथा-14

एक द्वार पर सुबह से ही बड़ी भीड़ थी। एक आदमी अपने घर के सामने मिट्टी में लोट रहा था। उसे देख कर राह चलते लोग रुक गए थे और पड़ोसी जमा हो गए थे। उसका कार्य ही ऐसा अनूठा और अद्भुत था!
और वह उसे बड़ी धर्मबुद्धि से कर रहा था। जैसे लोग मंदिरों में पूजा करते हैं, ऐसा ही कुछ भाव उसके कार्य में भी था। कुछ लोगों ने उसे रोकने का प्रयत्न भी किया लेकिन वह किसी की भी न सुनता था और मिट्टी में लोटता ही जा रहा था।
उसके इस भांति तड़पने का रहस्य सभी जानना चाहते थे, लेकिन किसी को कुछ
भी पता न था। उसकी पत्नी जरूर घर में बैठी रो रही थी, लेकिन उसे भी इस भांति लोटने का कारण ज्ञात न था।
ऐसे वह बड़ा नेक आदमी था और अधिकतर धर्म शास्त्रों में डूबा रहता था। अंततः दो-तीन व्यक्तियों ने किसी भांति उसे पकड़ कर रोक ही लिया और पूछा कि वह किस मुसीबत में फंसा है?
वह व्यक्ति कभी रोते नहीं देखा गया था लेकिन इस भांति रोके जाने से एकदम रो उठा और बोलाः ‘हे परमात्मा! ये अज्ञानी जीव मुझे क्यों सता रहे हैं?’ और फिर रोकने वाले लोगों से अत्यंत क्रोध में उसने कहाः ‘जाहिलो, तुमने मुझे रोक कर ठीक नहीं किया। मेरी साधना में तुमने बाधा दी है। क्या तुम्हें पता नहीं हैं कि बीज जब मिट्टी में मिल कर एक हो जाता है, तभी उसमें से फूल पैदा होते हैं? क्या कभी तुमने यह नहीं पढ़ा या सुना है कि ‘दाना खाक में मिल कर गुले-गुलजार होता है?’ पागलो, मैं इसी फलसफे पर अमल कर रहा हूं।’
उसने यह कहा था और वह फिर धूल में लोटने लगा था। और लोग धीरे-धीरे हट
गए थे, क्योंकि किसी के धर्मकार्य में बाधा देना तो ठीक नहीं है।
और अब उसकी पत्नी ने भी रोना बंद कर दिया था। क्योंकि उसका पति कोई बुरा कार्य तो कर ही नहीं रहा था। धर्म-साधना से अच्छी बात और क्या है? मैं भी उस भीड़ में था। और अब भी मैं रोज सुबह उस मार्ग से निकलता हूं।
उस व्यक्ति को अब कुछ शिष्य भी मिल गए हैं। वे सब भी भूमि में लोटते रहते हैं। अब वह अकेला नहीं है। उसका सम्प्रदाय खड़ा हो गया है। और अब तो उससे कोई कुछ भी नहीं कह सकता है। उस पर पहले जो लोग हंसे थे, वे ही अब उसे श्रद्धा से देखने लगे हैं।
वह तपस्वी जो हो गया है!

कथा-15

क्या सत्य ने आपको पुकारा है? क्या सत्य की प्यास ने आपके प्राणों को आंदोलित किया है? क्या सत्य ने आपके स्वप्नों को झकझोरा है और जागने का आमंत्रण दिया है?
मैं सोचता हूं कि हां--अन्यथा आप मेरे पास क्यों एकत्रित होते? मैं तो स्वप्न-भंजक हूं और केवल वे ही इस द्वार पर आकर्षित होते हैं जिनकी कि खोज सत्य के लिए है।
लेकिन, मित्र, इसके पहले कि कोई सत्य को या परमात्मा को खोज सके, उसे स्वयं के संबंध में बहुत से सत्य जान लेने होते हैं।
और यह कार्य न तो बहुत प्रीतिकर ही है और न ही बहुत आसान। वस्तुतः तो स्वयं के संबंध में सत्यों का उद्घाटन अत्यंत कष्टपूर्ण और कठिन प्रक्रिया है। वह एक तपश्चर्या ही है। क्योंकि, हमने स्वयं को इतने असत्य वस्त्रों से ढांक रखा है कि उनसे मुक्त होना ऐसा ही प्रतीत होता है कि जैसे कोई हमारी चमढ़ी ही उतार रहा है।
लेकिन, इसके पूर्व कि कोई जान सके कि वह कौन है--यह जान लेना अत्यंत आवश्यक है कि वह क्या है?
‘मैं क्या हूं’--इसे उसकी पूर्ण नग्नता में जानना सत्य की खोज का पहला चरण है।
और तभी ‘मैं कौन हूं?’ इसके अनावरण की यात्रा की जा सकती है।
जो स्वयं के तथ्य को भी नहीं जानता है, वह सत्य को कैसे जान सकता है।
लेकिन, हमने तो स्वयं के कटु तथ्यों को सुस्वादु अतथ्यों से ढांक लिया है और यथार्थ की अग्नि को भ्रामक आत्म-प्रवंचनाओं की राख में छिपा दिया है।
इस झूठे जाल के अतिरिक्त मनुष्य की न तो कोई अमुक्ति है और न कोई बंधन है।
और, स्वभावतः, जब तथ्यों के दर्शन से अतथ्य गिरते हैं; और सत्यों के आघात से झूठे व्यक्तित्व का ताशों के महल चरमराकर गिर पड़ता है तो हृदय को बहुत चोट पहुंचती है।
सत्य के खोजी के धैर्य की परीक्षा यहीं है।
जो यहां असफल हो जाता है, उसे सत्य के मंदिर की सीढ़ियों के भी दर्शन नहीं हो पाते हैं। उसे तो बाहर से और दूर से ही वापिस लौट आना पड़ता है।

एक सम्राट सत्य की खोज के लिए प्यासा हो गया था। वह साम्राज्य छोड़ कर सत्य की खोज में निकलने का था। उसकी विदाई का समारोह मनाया जा रहा था। देश के प्रतिष्ठित व्यक्ति अपनी-अपनी शुभकामनाएं और श्रद्धा प्रगट करने राजधानी में उपस्थित हुए थे। राज्य भर के कवियों का भी आगमन हुआ था। और कवियों ने सम्राट की प्रशंसा में क्या-क्या नहीं लिखा था! सम्राट ने प्रत्येक कवि को एक-एक हीरा भेंट किया था। एक वृद्ध कवि ने भी सम्राट के लिए कुछ पंक्तियां लिखी थीं, लेकिन उनमें प्रशंसा नहीं थी। वरन जो सत्य था, वही था। वह सत्य कडुआ भी था।
उस वृद्ध की नासमझी पर सभी हैरान और क्रुद्ध थे। लेकिन जब सम्राट ने
एक हीरा उस वृद्ध को भी भेंट किया तो वे सम्राट की नासमझी पर और भी ज्यादा चकित हो गए थे। और दूसरे दिन तो सबके आश्चर्य और शिकायत का ठिकाना ही न रहा था, जबकि ज्ञात हुआ कि शेष सबको दिए गए हीरे नकली थे और असली हीरा केवल उस वृद्ध को ही दिया गया था!
और, इस सबके संबंध में उस वृद्ध ने क्या कहा था?
उसने कहा थाः ‘मैं आश्वस्त हूं कि सम्राट सत्य खोज सकेगा। उसकी यह खोज व्यर्थ नहीं जाएगी। क्योंकि वह स्वयं के संबंध में सत्य सुनने के साहस का धनी है।’

मित्रो, क्या मैं आप सबके संबंध में भी ऐसा ही आश्वस्त हो सकता हूं?

कथा-16

समाज रुग्ण है। समाज अस्वस्थ है। लेकिन, मैं इसके लिए किसे दोष दूं-- किसे दोषी ठहराऊं? पूरा समाज ही तो सड़-गल गया है।
फिर भी दोषी को खोजता हूं तो क्या आपको ज्ञात है कि अंत में किसे दोषी पाता हूं?
ऊपर-ऊपर खोजता हूं तो कभी यह दोषी मालूम होता है तो कभी वह। लेकिन, जब गहरे खोजता हूं तो अंत में स्वयं को ही दोषी पाता हूं।
आप भी खोजें--हो सकता है कि आप भी अपने को ही दोषी पाएं। यदि न पाएं तो जानना कि खोज ऊपर ही ऊपर कर रहे हैं।
यह असंभव है कि मैं भागीदार न होऊं उस समाज के स्वास्थ्य या अस्वास्थ्य में जिसका कि मैं हिस्सा हूं।
आखिर समाज क्या है? समाज तो व्यक्ति और व्यक्ति का अन्तर्संबंध ही है
न? इसलिए, दोषी है तो प्रत्येक व्यक्ति है। और दोषी नहीं है तो कोई भी नहीं है।
और चूंकि समाज रुग्ण है, इसलिए प्रत्येक दोषी है।
समाज दोषी है, इसका यह अर्थ नहीं है कि कोई भी दोषी नहीं है।
नहीं, समाज दोषी है, इसका यही अर्थ है कि प्रत्येक दोषी है।
लेकिन, जब तक एक को केवल दूसरे का दोष दिखता है, तब तक कोई परिवर्तन नहीं हो सकता है।
क्योंकि, कोई अन्य किसी को कब बदल सका है? बदलाहट तो सदा व्यक्ति ही स्वयं में करने में समर्थ होता है।
वह शक्ति व्यक्ति में ही है। इसलिए, जिस दिन मैं स्वयं के दोष देखना शुरू करता हूं, उसी दिन वह बदलाहट प्रारंभ हो जाती है।
वस्तुतः स्वयं के दोषों को जानना और उन्हें न बदलना असंभव है।
ज्ञान क्रांति है।
असल में हम दूसरों के दोष देखते ही इसलिए है ताकि स्वयं के दोष देखने
से बच सकें। यही उन्हें बदलने से बचने का उपाय है।
और क्या यह भी मुझे कहना होगा कि ऐसे उपाय करना समाज को तो रुग्ण करना
है ही, साथ ही स्वयं का आत्मघात करना भी है!

एक घटना मुझे याद आती है। एक छोटे से स्कूल की घटना है। सुबह ही सुबह स्कूल खुला ही था कि अचानक ही स्कूल इंस्पेक्टर निरीक्षण के लिए आ पहुंचे थे। उन्होंने पहले ही कक्ष में पहुंचकर अध्यापक से कहाः ‘बताइए कि आपकी कक्षा में तीन सबसे चुस्त लड़के कौन से हैं? मैं उनकी गणित में परीक्षा लेना चाहता हूं।’
इस पर धीरे से उठ कर एक लड़का बोर्ड के पास पहुंचा। इंस्पेक्टर ने उससे
जो सवाल पूछा, उसने चटपट हल कर डाला और वापस आकर अपनी जगह पर बैठ गया। फिर दूसरा लड़का उठा। वह भी पूछा गया सवाल हल करके अपनी जगह पर लौट गया। लेकिन तीसरे लड़के के आने में थोड़ी देर हुई। और जो लड़का आया भी, वह भी बहुत झिझकता हुआ बोर्ड के समीप पहुंचा। खड़िया उठा कर वह बोर्ड पर लिखा सवाल हल करने जा ही रहा था कि इंस्पेक्टर ने पहचाना कि यह तो वही लड़का है जो कि सबसे पहले आया था!
‘क्यों यह क्या तमाशा है?’ वे उस लड़के पर बरस पड़े। ‘तू मुझे चराने की कोशिश कर रहा है? क्या तू एक बार सवाल हल नहीं कर चुका है?’
वह लड़का झेंपा और जरा मुस्कुराया भी और बोलाः ‘क्षमा करिए, मैं एक और लड़के के स्थान पर आया हूं।’
‘एक और लड़के के स्थान पर? इसका क्या मतलब है? एक लड़का दूसरे के स्थान
पर परीक्षा दे, ऐसी लज्जाजनक बात मैंने आज तक नहीं देखी है।’ इंस्पेक्टर ने लड़के के कान उमेठते हुए पूछाः ‘तू किसकी जगह आया है?’
‘अपने एक मित्र की जगह। वह क्रिकेट का मैच देखने गया है।’ लड़के ने कहा। इतना सुनना था कि इंस्पेक्टर ने अध्यापक की ओर मुड़कर कहाः ‘महाशय! आपने यह बात कैसे होने दी? आप जानते हैं कि यह लड़का पहले भी सवाल हल कर चुका है। फिर भी आप चुपचाप खड़े हुए मुझे मूर्ख बनाया जाना देख रहे हैं? यह बड़ी शर्म की बात है।’

अध्यापक ने कुछ झिझकते हुए सफाई देने की कोशिश कीः ‘महानुभाव, माफ कीजिए। असल में मैं इन छात्रों को पहचानता नहीं हूं।’
‘क्या? इनके अध्यापक होकर भी आप इन्हें नहीं पहचानते हैं? यह कैसे संभव है भला?’
‘मैं इस कक्षा का अध्यापक नहीं हूं।’
‘तो फिर आप यहां क्यों खड़े हैं?’
‘मैं एक और अध्यापक के बदले यहां आया हूं। वे क्रिकेट का मैच देखने चले गए हैं।’
इस बार तो कक्षा में एकदम मृत-सन्नाटा छा गया। सारी कक्षा दम रोक कर प्रतीक्षा कर रही थी कि न मालूम इंस्पेक्टर साहब अब क्या कहेंगे या करेंगे?
लेकिन, बिल्कुल अनपेक्षित... इंस्पेक्टर महोदय थोड़ी देर तो चुपचाप ही खड़े रह गए और फिर मुस्कुराने लगे और फिर ऐसे बोले कि जैसे कुछ भी न हुआ होः ‘अपने भाग्य को धन्यवाद दीजिए कि आज असली इंस्पेक्टर निरीक्षण को नहीं आए हैं। वे क्रिकेट का मैच देखने गए हैं। मैं उनका मित्र, उनकी जगह आया हूं; वरना आप दोनों की आज खैर नहीं थी।’

कथा-17

एक अद्भुत कथा हैः
एक बार उर्वशी के आकर्षण, सौन्दर्य और शक्ति की परीक्षा के लिए इन्द्र ने तीन ऋषियों को आमंत्रित किया था। स्वभावतः उर्वशी ने उस दिन अपने रूप को आकर्षक बनाने में कोई कसर न उठा रखी थी। उसके नृत्य को देख कर सभी देव मुग्ध हो उठे थे। लेकिन वे तीनो ऋषि शांत बैठे थे। सहसा उर्वशी ने अपना उत्तरीय उतार डाला और शरीर के ऊपरी भाग पर जो अलंकरण और वस्त्र थे, धीरे-धीरे उन सभी को उतारने लगी। तब एक ऋषि चिल्लाएः ‘उर्वशी! यह अनैतिकता है। बंद करो यह नाच। मैं इसे नहीं देख सकता हूं।’
लेकिन, इस पर दूसरे ऋषियों ने कहाः ‘नहीं देख सकते हो तो अपनी आंखें बंद कर लो। किन्तु नृत्य कैसे बंद हो सकता है?’
पहले ऋषि ने आंखों पर हाथ रख लिए। उर्वशी प्रसन्न हुई। एक ऋषि हार गए थे। नृत्य ने और गति पकड़ ली। धीरे-धीरे उर्वशी ने अधोवस्त्र भी उतारने शुरू कर दिए। तब दूसरे ऋषि चिल्ला उठेः ‘बंद करो यह नृत्य। ऐसी अश्लीलता असह्य है।’
लेकिन तीसरे ऋषि ने कहाः ‘मित्र, नहीं देख सकते हो तो तुम भी नेत्र मूंद लो। मैं यह नाच पूरा ही देखना चाहता हूं।’
दूसरे ऋषि ने भी आंखें मूंद ली। उर्वशी को एक विजय और मिल गई थी। विजय
से उन्मत्त हो वह और भी गति और त्वरा से नाचने लगी। देवताओं ने ऐसा नृत्य कभी न देखा था। वे तो मंत्र मुग्ध हो बैठे थे। उन्हें अपना कोई होश भी न था। और तब उर्वशी ने शरीर के सारे वस्त्र उतार कर फेंक दिए। अंतिम आभूषण भी उतार दिया। तीसरे ऋषि शांति से सब देख रहे थे। फिर तो वह घबड़ा गई। अब उसके पास उतारने को और कुछ भी न रह गया था। वह पूर्ण नग्न थी।
और तभी तीसरे ऋषि ने कहाः ‘उर्वशी! रुक क्यों गईं? उतारो, अपनी इस केंचुल को भी उतार फेंको। मैं अंत तक देखना चाहता हूं। जो कुछ भी है, मैं उसे देखना चाहता हूं। मैं जानना चाहता हूं कि वह आकर्षण कहां है जो कि मनुष्य को खींचता और विक्षिप्त करता है?’
उर्वशी ने कहाः ‘अब आगे और कुछ भी नहीं है। आगे तो मांस और मज्जा है।
और आकर्षण उनमें नहीं, मनुष्य के मन में है। लेकिन आपको अब यह आकर्षण नहीं सता सकेगा क्योंकि आपने आंखें नहीं मूंदी हैं। जो आंख खोल कर जीवन के पूर्ण सत्य को देख लेता है, वह समस्त आकर्षणों के पार हो जाता है।’

कथा-18

अधर्म क्या है?
पाप क्या है?
अज्ञान क्या है?
आपके प्रश्न तीन हैं। लेकिन मेरा उत्तर एक है। और वह भी एक छोटे से शब्द में। वह शब्द हैः ‘मैं’।
अहंकार अधर्म है।
अहंकार पाप है।
अहंकार अज्ञान है।
अहंकार है चित्त में घिरे अंधकार की शरण स्थल। और इसलिए जो अंधकार से
तो मुक्त होना चाहता है लेकिन अहंकार से नहीं; वह एक बिल्कुल ही व्यर्थ प्रयास में संलग्न है।
अहंकार के वस्त्रों में छिपा है सारा अधर्म। इसलिए जो अधर्म से तो मुक्त होना चाहता है लेकिन अहंकार को बचाता है, उसकी निष्फलता सुनिश्चित है।
अहंकार पाप है। लेकिन वह पुण्य के भवनों में निवास करता है और ऐसे उसने अपने लिए बड़ी सुदृढ़ सुरक्षा कर ली है।
अहंकार अपनी रक्षा के लिए धन कमाता है, धर्म कमाता है, ज्ञान जुटाता है, त्याग करता है। उसकी आत्मरक्षा के उपाय बहुत सूक्ष्म हैं। वह प्रत्येक रूप में स्वयं को बचाता है। और अंततः तो वह प्रभु में भी स्वयं को बचाने की कोशिश करता है। वह कहता है ‘मैं ब्रह्म हूं।’
आह! संसार में वह है। संन्यास में भी वह है।
लेकिन सब रूपों में--सब सूक्ष्म प्रक्रियाओं में उसे पहचाना और पकड़ा
जा सकता है यदि उसकी आत्मरक्षा की केन्द्रीय विधि ध्यान में रहे तो। उसकी केन्द्रीय विधि क्या है? अहंकार अपनी रक्षा और अपना पोषण करता हैः स्वयं के दोष न देखने में। इसलिए वह सदा औरों के दोष की ओर ही देखता रहता है।
अधर्म कहां है--और हम दूसरों में खोजने लगते हैं।
पाप कहां है--और हम दूसरों में खोजने लगते हैं।
अज्ञान कहां है--और हम दूसरों में खोजने लगते हैं।
और अहंकार इसी शिल्प से स्वयं को खोजे जाने से बचा होता है। और वह ऐसे
न केवल स्वयं को पकड़े जाने से बचा ही लेता है, बल्कि स्वयं को और परिपुष्ट और सुदृढ़ भी कर लेता है। क्योंकि, दूसरे जितने दोषी सिद्ध होने लगते हैं, वह उतना ही निर्दोष दिखाई पड़ने लगता है। निंदा का रस अकारण ही नहीं हैं। वह स्वयं को निर्दोष देखने की ही परोक्ष विधि है।
निर्दोष होने में तो अहंकार की मृत्यु है। लेकिन निर्दोष दिखने में उसकी शक्ति और उसका जीवन है। इसलिए वह निर्दोष होने से बचना चाहता है। और निर्दोष दिखने को परिपुष्ट करता है। और मनुष्य के समक्ष सदा ये दो ही विकल्प हैं। और इन दोनों में से कोई एक ही चुना जा सकता है। जो निर्दोष होने को चुनता है, वह निर्दोष दिखने को नहीं चुन सकता। उसे तो स्वयं के दोष खोज-खोजकर जानने होते हैं। और जो निर्दोष दिखने को चुनता है, उसे स्वयं के दोष छिपाने और औरों के दोष खोजने होते हैं। वह औरों के दोषों को जानने और बड़ा करके देखने में जितना समर्थ हो जाता है, उतना ही उसके स्वयं के दोष छोटे और नगण्य हो जाते हैं। वह जिस क्षण पूर्णरूपेण दोष अन्य पर थोप देता है, उसी क्षण पूर्ण निर्दोष होने की भ्रांति भी स्वयं के लिए खड़ी कर लेता है। यह भ्रांति ही स्वयं के परिवर्तन और आलोकित जीवन की दिशा में जाने के द्वार पर सबसे बड़ा अवरोध बन जाती है।

एक रात्रि किसी चर्च में एक अज्ञात फकीर ठहरा। उस चर्च के धर्मगुरु
ने उससे कहाः ‘मैं चाहता था कि आप भी कल हमारी धर्मसभा में बोलें, लेकिन मुझे आपसे कहने में संकोच होता है, क्योंकि यहां के लोगों ने एक बड़ी बुरी आदत सीख ली है कि वे अक्सर बीच सभा में से ही उठ कर चले जाते हैं।’

इस पर वह फकीर हंसा और बोलाः ‘मैं कल बोलूंगा। और तुम देखोगे कि एक भी व्यक्ति उठ कर नहीं जाता है। मैं मनुष्य की कमजोरी को भलीभांति जानता हूं।’
उस चर्च के धर्मगुरु को इस बात पर विश्वास तो नहीं आया क्योंकि वह अपने चर्च के लोगों को भलीभांति जानता था। लेकिन उसने कुछ कहा नहीं और सोचा कि कल तक प्रतीक्षा करना और देखना ही उचित है।
और आश्चर्य कि कल वही हुआ जो कि उस फकीर ने कहा था। एक भी व्यक्ति सभा
से उठ कर नहीं गया। उठ कर जाना तो दूर, कोई अपनी जगह से हिला तक नहीं। क्या उस फकीर ने कोई जादू कर दिया था? नहीं, उसकी तरकीब बड़ी सीधी-सादी थी। वह निश्चय ही मनुष्य की कमजोरी को जानता था; और उसने उस कमजोरी को ही उस दिन स्वयं की शक्ति बना लिया था।
वह अत्यंत साधारण बोलने वाला था। और उसके व्याख्यान में तो कोई भी नहीं रुक सकता था। लेकिन प्रवचन शुरू करने के पूर्व ही उसने कहाः ‘मित्रो, मैं आज दो प्रकार के लोगों से बोलने जा रहा हूं। पहले तो मैं पापियों से कुछ बातें करूंगा और फिर पुण्यात्माओं से। इसलिए जब मैं आधा बोल लूं तो पापी जा सकते हैं।
फिर, आधा बोलने पर उसने कहा भी कि पापी सब जा सकते हैं। वह उनके जाने
के लिए थोड़ी देर ठहरा भी। लेकिन, नहीं, एक भी व्यक्ति जाने को उत्सुक नहीं था।
हां, लोग एक-दूसरे की ओर जरूर देख रहे थे--जो जिसे पापी समझता था, वह उसी की ओर देख रहा था और उसके जाने की प्रतीक्षा भी कर रहा था। लेकिन कोई अपनी ओर नहीं देख रहा था। इसलिए उस सभा से किसी के जाने का सवाल ही कहां था? चूंकि वहां कोई भी अपनी ओर देखने वाला नहीं था, इसलिए वहां कोई भी पापी नहीं था।
लेकिन, वह फकीर अद्भुत था। और वह आगे बोला भी नहीं। उसने बस इतना ही और कहाः ‘काश! आप में से कोई उठता और जाने को राजी होता तो उससे ही मैं वे आधी शेष रह गई बातें कहता जो कि मुझे पुण्यात्माओं से कहनी हैं।’

स्वयं के पापों को जानना और पहचानना पुण्यात्मा का पहला लक्षण है। वह
एक नयी यात्रा का प्रारंभ है। क्योंकि, वह बोध ही व्यक्ति को अहंकार से अंततः मुक्त होने में समर्थ बनाता है।
और जहां अहंकार नहीं है, वहीं धर्म है, वहीं परमात्मा है।

कथा-19

शरीर की निद्रा है और आत्मा की भी।
शरीर का जागरण है और आत्मा का भी।
लेकिन, साधारणतः मनुष्य शरीर की निद्रा और जागरण के अतिरिक्त और किसी निद्रा और जागरण से परिचित नहीं होता है।

एक बार किसी पहाड़ी सराय में मुझे दो साधुओं के साथ एक ही कक्ष में ठहरना पड़ा था। सर्दी की रात थी और बर्फीली हवाएं चल रही थीं। रात्रि के तीन बजे वे दोनों साधु उस कड़कती ठंड में उठ कर नदी स्नान करने जा रहे थे।
यह उनका आनंद होता तो भी ठीक था। लेकिन नहीं, यह उसका आनंद नहीं, त्याग था।
और त्याग था किसी प्राप्ति की आशा में।
उनके उठते ही मेरी नींद भी खुल गई। लेकिन मैं कम्बल ओढ़े लेटा हुआ था।
उ
न्होंने शायद यह नहीं जाना था कि मैं जाग गया हूं। निश्चय ही मेरे सोने से, मेरे सुख से उन्हें ईर्ष्या हुई होगी क्योंकि उनमें से एक ने दूसरे से कहाः ‘अंत में कहीं यदि यही सिद्ध हुआ कि हम गलत और ये सोने वाले लोग ही सही थे तो क्या होगा?’

यह सुन कर स्वभावतः मुझे हंसी आ गई थी और मैंने उनसे कहा थाः ‘मित्रो! जिसे तुम सोया समझ रहे हो, वह भी सोया हुआ नहीं हैं। और जिसे तुमने जागना समझा है, क्या वह भी कोई जागना है?’

कथा-20

एक व्यक्ति मंदिर जा रहा था। मैंने उससे पूछाः ‘मित्र, मंदिर क्यों जा रहे हो?’
उसने हैरानी से मुझे देखा और कहाः ‘परमात्मा के दर्शन करने।’
मैं हंसने लगा तो उसने कहाः ‘इसमें हंसने की क्या बात है?’
मैंने कहाः ‘परमात्मा मंदिर में है तो फिर शेष जगह कौन है?’
वह व्यक्ति अब भी मुझे कभी-कभी मिला करता है लेकिन मुझसे बच कर निकलता है। उस पर मेरा प्रश्न उधार है। उसने अभी तक उसका उत्तर नहीं दिया है। मैं आपसे भी यही पूछता हूं। क्योंकि, जब तक परमात्मा ‘कहीं’ है तब तक उसे नहीं पाया जा सकता है। जिस दिन बस ‘वही’ है, वह उसी दिन पा लिया जाता है। क्योंकि, फिर तो उसे खोना ही असंभव है। तब तो वस्तुतः वह सदा पाया ही हुआ है।

एक व्यक्ति आंखें बंद किए बैठा था। मैंने उससे पूछाः ‘मित्र, यह क्या
कर रहे हो?’
उसने क्रोध से आंखें खोली और कहाः ‘मैं प्रभु स्मरण कर रहा हूं।’
अब मैं सोचता हूं कि क्या प्रभु का भी स्मरण किया जा सकता है। वह तो हमारा जीवन है। वह तो हमारी श्वांस-श्वांस है। उसका स्मरण कैसे हो सकता है? उसमें और स्वयं में उतना फासला भी कहां है?
यह मैंने उससे कहा था। लेकिन उसने आंखों के साथ-साथ दोनों हाथों से अपने कान भी बंद कर लिए थे। और मुझसे कहा थाः ‘मैं धर्म के विरोध में कुछ भी नहीं सुनना चाहता हूं।’
मैं आपसे पूछता हूं कि आप भी कहीं आंख-कान बंद कर लेने को तो धर्म नहीं समझते हैं?

एक व्यक्ति धर्मतीर्थ जा रहा था। मैंने उससे पूछाः ‘मित्र, तीर्थ किसलिए जा रहे हो?’
उसने कहा ‘पवित्र होने।’
मैंने पूछाः ‘क्या शेष समय अपवित्र होने का ही अभ्यास करते हो? क्या उचित नहीं हैं कि जीवन ही पवित्र हो और पवित्रता और कहीं न खोजनी पड़े? फिर क्या यह संभव भी है कि पवित्रता कहीं मिल सके जबकि जीवन में ही उसे नहीं पा लिया गया है। जीवन की पवित्रता के तीर्थ के अतिरिक्त और कोई तीर्थ कहां है? और जीवन की पवित्रता के मंदिर के अतिरिक्त और कोई परमात्मा का मंदिर कहां है?
वह व्यक्ति यह सुन कुछ सोच में पड़ गया था, तो मैं प्रसन्न हुआ।

बोध कथाएं भाग-2 से ली गई कथा

‘मैं’ तभी तक है, जब तक ‘मेरा’ है। वह ‘मेरा’ का ही पुंजीभूत रूप है। जहां ‘मेरा’ कुछ नहीं है, वहां ‘मैं’ भी खो जाता है।
और जहां ‘मैं’ नहीं है, वहां वह है, जो है।
मैं-शून्य सत्ता ही परमात्मा है।

एक सुदर्शन नाम का ब्राह्मण था। शांत मन में, ध्यान में उसे दीखा कि मेरा तो कुछ भी नहीं है। उस दिन से उसके स्वामित्व-भाव का विसर्जन हो गया। यह बात उसने किसी को बताई नहीं। लेकिन, उससे जो भी, जो कुछ मांगता था, वह उसे दे देता था। एक दिन उसे गांव के बाहर जाना था सो असने अपनी चित्त स्थिति पत्नि को समझा दी और कहा- ‘जो भी कोई कुछ मांगे, दे देना। मैं, मेरा कुछ भी नहीं है।’
दिन भर तो कोई नहीं आया लेकिन रात्रि एक अपरिचित अतिथि आ पहुंचा। स्नान-भोजन के बाद उसने सुदर्शन की स्त्री को कहा: ‘किबाड़ बंद कर दो और आओ, मेरी सेवा करो।’
स्त्री ने वैसा ही किया। वह उसके पांव दबाने लगी। उसी समय सुदर्शन ने आकर बाहर से आवाज दी। उसकी स्त्री पशोपेश में पड़ी: ‘अतिथि सेवा करूं या किबाड़ खोलूं?’
अतिथि ने कहा: ‘अपने पति से पूछ लो।’
पति ने बाहर से कहा: ‘तुम अतिथि सेवा कर लो। मैं बाहर बैठा हूं।’
वह बाहर ही बैठ गया। आधी रात बीत गई तब उसकी स्त्री ने द्वार खोले। लेकिन लौटकर देखा तो अतिथि तो नहीं था। उसकी जगह एक अपूर्व प्रकाश और सुगंध जरूर घर में व्याप्त थी।
उसने अपने पति से पूछा: ‘अरे, अतिथि कहां गये?’
सुदर्शन बोला: ‘वे मेरे हृदय में आ गये हैं। मेरी परीक्षा पूरी हो गई है।’

मिट्टी के दीये
आचार्य श्री रजनीश के प्रवचनों से संकलित बोध कथाएं

भूमिका

‘मैं मनुष्य के आर-पार देखता हूं तो क्या पाता हूं? पाता हूं कि मनुष्य भी मिट्टी का एक दिया है। लेकिन वह मिट्टी का दिया मात्र ही नहीं है। उसमें वह ज्योति-शिखा भी है जो कि निरंतर सूर्य की ओर ऊपर उठती रहती है। मिट्टी उसकी देह है। उसकी आत्मा तो यह ज्योति ही है। किंतु जो इस सतत उर्ध्वगामी ज्योति-शिखा को विस्मृत कर देता है, वह बस मिट्टी ही रह जाता है। उसके जीवन में उर्ध्वगमन बंद हो जाता है। और जहां उर्ध्वगमन नहीं है, वहां जीवन ही नहीं है।’
‘मित्र, स्वयं के भीतर देखो। चित्त के सारे धुयें को दूर कर दो और उसे देखो जो कि चेतना की लौ है। स्वयं में जो मर्त्य है उसके ऊपर दृष्टि को उठाओ और उसे पहचनो जो कि अमृत है! उसकी पहचान से मूल्यवान कुछ भी नहीं है। क्योंकि वही पहचान स्वयं के भीतर पशु की मृत्यु और परमात्मा का जन्म बनती है।’

आचार्य श्री रजनीश के इन अमृत शब्दों के साथ उनके प्रवचनों, चर्चाओं
और पत्रों से संकलित बोध कथाओं का यह संग्रह हम आपको भेंट करते हुये अत्यंत आनंद अनुभव कर रहे हैं। परमात्मा उनकी वाणी को आपके भीतर एक ऐसी अभीप्सा बना दे, जो कि चित्त के सोये जीवन से आत्मा की जाग्रति के लिये एक अभिनव प्रेरणा और परिवर्तन बन जाती है। परमात्मा से यही हमारी प्रार्थना और कामना है।
इस संकलन को प्रो. श्री अरविंद ने अत्यंत श्रद्धा और श्रम से तैयार किया है। तदर्थ हम उनके हृदय से ऋणी और आभारी हैं।

दीपावली संदेश

‘मैं मनुष्य के आर-पार देखता हूं तो क्या पाता हूं कि मनुष्य भी मिट्टी का एक दिया है। लेकिन वह मिट्टी का दिया मात्र ही नहीं है। उसमें वह ज्योति-शिखा भी है जो कि निरंतर सूर्य की ओर ऊपर उठती रहती है। मिट्टी उसकी देह है। उसकी आत्मा तो यह ज्योति ही है। किंतु जो इस सतत उर्ध्वगामी ज्याति-शिखा को विस्मृत कर देते हैं, वे बस मिट्टी ही रह जाते हैं। उनके जीवन में उर्ध्वगमन बंद हो जाता है। और जहां उर्ध्वगमन नहीं है, वहां जीवन ही नहीं है।’

‘मित्र, स्वयं के भीतर देखो। चित्त के सारे धुयें को दूर कर दो और उसे देखो जो कि चेतना की लौ है। स्वयं में जो मर्त्य है उसके ऊपर दृष्टि को उठाओ और उसे पहचानो जो कि अमृत है। उसकी पहचान से मूल्यवान और कुछ भी नहीं है; क्योंकि वही पहचान स्वयं के भीतर पशु की मृत्यु और परमात्मा का जन्म बनती है।’

‘क्या बाहर के दिये जलाने से अभी तृप्ति नहीं हुई है? उनमें ही उलझे रहे तो भीतर का दिया कब जलाओगे? जीवन अल्प है और प्रतिक्षण बीतता जाता है। उठो और जागो, अन्यथा समय बीत जाने पर बहुत पछताना होता है।’

‘जीवन उसका है जो जाग जाता है और ज्योति बन जाता है।’
-आचार्य श्री रजनीश

दीपावलि के शुभ अवसर पर हमारी मंगल कामनायें स्वीकार करें। और आचार्य श्री रजनीश के उपर्युक्त अमृत वचनों के अपने हृदय में स्थान दें। उनमें जो आमंत्रण है वह आपके हृदय की अभीप्सा बन सके यही हमारी कामना है।

ओशो की हस्तलिपि में ‘सत्यं-शिवं-सुंदरं’ शीर्षक वाले संकलन से--

एक व्यक्ति ने मुझसे पूछा कि क्या आपको परमात्मा से कोई शिकायत नहीं है?

मैं क्या कहता, थोड़ी देर तक तो चुप ही रह गया; क्योंकि जब तक परमात्मा
का पता न हो तभी तक शिकायत हो सकती है। और जब तक शिकायत है तब तक उसका पता नहीं हो सकता। परमात्मा की अनुभूति तो केवल उस चित्त में ही हो सकती है जो कि सब आकांक्षाओं और अपेक्षाओं से मुक्त हो गया है। और जहां आकांक्षा नहीं, अपेक्षा नहीं, वहां शिकायत कैसी? जो है, जो हो रहा है, उसके सहज स्वीकार से ही उस चित्त भूमि का निर्माण होता है, जहां कि परमात्मा के बीज अंकुरित हो सकें।

एक हिब्रू कथा है कभी एक फकीर हुआ, अजीफा। वह परमात्मा की खोज में भटकता था। प्रार्थनाएं करते-करते वह थक गया था और उपवास करते-करते उसके अंतिम दिन निकट आ गए थे। लेकिन परमात्मा दूर था, सो दूर ही रहा। फिर भी उसकी कोई शिकायत न थी। और शत्रु उसके पीछे पड़े थे। बुढ़ापे में भी उसे एक गांव से दूसरे गांव भागना पड़ रहा था। सब ने उसका साथ छोड़ दिया था। उसके पास एक कंदील थी जिसके प्रकाश में वह धर्मशास्त्र पढ़ लेता था। और था एक मुर्गा जो उसे भोर होते ही जगा देता था। और था एक गधा जिस पर वह एक गांव से दूसरे गांव यात्रा करता रहता था। यही थे उसके साथी। और हृदय में परमात्मा के लिए प्रार्थना थी और धन्यवाद था।

एक अंधेरी अमावस की रात्रि में बहुत थका-मांदा वह एक गांव में गया। किंतु उस गांव के लोगों ने उसे शरण नहीं दी। उसने उन्हें धन्यवाद दिया और परमात्मा को भी और गांव के बाहर जाकर एक सूखी बावली में ठहर गया। उसने अपनी कंदील जलाई लेकिन हवा के तेज झोंकों ने उसे बुझा दिया। उसने परमात्मा को धन्यवाद दिया और विश्राम करने को लेट गया। लेकिन तभी एक भेड़िए ने उसके मुर्गे को मार डाला और एक सिंह उसके गधे को खा गया। उसने पुनः भगवान को धन्यवाद दिया और सोने की कोशिश की। और तभी उसी रात्रि, जबकि वह बिल्कुल असहाय था, भूखा था, प्यासा था, थका-मांदा था और उससे सब कुछ छीन लिया गया था; उसका धन्यवाद देने वाला हृदय परमात्मा के दर्शन को उपलब्ध हुआ। उसने सत्य को जाना। क्योंकि वह समता को और स्वीकार को उपलब्ध हो गया था।

संध्या के तारे
(संध्याकालीन चर्चाओं से)
संकलनः अजित, एम.ए., एम. कॉम., एल. एल. बी.

1 यह मनुष्य क्यों मर रहा है?

मैं आज तक की सभी संस्कृतियों और सभ्यताओं को अधूरी पाता हूं। मनुष्य
अब तक भी ऐसी संस्कृति का निर्माण नहीं कर पाया है जो कि उसके पूरे जीवन को स्पर्श करती हो। मनुष्य इसीलिए अतृप्त, असंतुष्ट और बेचैन है। उसके पूरे प्राण, उसका व्यक्तित्व तृप्ति पा सके, ऐसी कोई जीवन दृष्टि वह विकसित नहीं कर पाया है। उसके व्यक्तित्व का एक अंश तृप्त होता है तो दूसरा भूखा रहता है। दूसरे की भूख मिटती है तो पहला उपेक्षित हो जाता है। लेकिन कुल जोड़ में वह सदा अशांति, बेचैनी और तनाव पाता है। दुर्भाग्य की इस कथा के पीछे कारण क्या है?
मनुष्य को द्वैत में तोड़ कर देखना ही वह कारण है।
मनुष्य के शरीर और आत्मा में एक अनिवार्य द्वंद्व की धारणा ही वह कारण है।
आत्मा और शरीर, चेतन और जड़ता के बीच शत्रुता मान कर ही हमने अपने हाथों अपना दुर्भाग्य निर्मित कर लिया है।
जीवन को इस भांति द्वंद्व में और खंड में देखने वाली दृष्टि ने ही अब
तक मनुष्य की संस्कृतियों को जन्म दिया है इसलिए वे संस्कृतियां अपूर्ण, अधूरी और आंशिक रही हैं। पूर्व और पश्चिम ने ऐसे ही अधूरे प्रयोग किए हैं। अध्यात्मवाद और भौतिकवाद के नाम पर ऐसी ही आंशिक सभ्यताएं निर्मित हुई हैं।
लेकिन इस सीधे-सादे तथ्य को हम अब तक भी नहीं देख पाए हैं कि मनुष्य न
तो अकेला शरीर है और न अकेली आत्मा। वह दोनों है। शायद वह दो भी नहीं है; एक ही है। और उस एक को ही हम दो में बांट कर देख रहे हैं। यह दो में देखना शायद हमारी देखने की असमर्थता ही है।
मनुष्य मनो-भौतिक (साइको-फिजिकल) है। वह एक अपूर्व संतुलन है। वह एक अद्भुत संगीत है। और जैसे ही हम इस संगीत को दो में बांटते हैं, वैसे ही उसका सारा व्यक्तित्व बेसुरा हो जाता है। मनुष्य की अखंडता में जो संतुलन और सौंदर्य है, वह उसे खंड-खंड करके देखने पर कहीं भी उपलब्ध नहीं होता है। खंडित होते ही--या एक खंड पर अति बल देते ही मनुष्य एक कुरूपता में परिणत हो जाता है। अध्यात्मवादियों और भौतिकवादियों ने--दोनों ने ही मनुष्य को कुरूप किया है। क्योंकि दोनों ने ही उसे उसकी पूर्णता में नहीं स्वीकारा है। वे दोनों ही उसमें चुनाव करते रहे हैं। इसके पूरेपन से वे दोनों ही भयभीत रहे हैं। अपने वादों और विवादों से उन्हें जितना मोह है उतना मनुष्य से कतई नहीं हैं।
वे मनुष्य को देखकर उसके लिए सिद्धांतों के कपड़े नहीं बनवाते हैं। वरन उनकी प्रक्रिया पूर्णतः उलटी ही है। वे सिद्धांतों के कपड़े पहले बना लेते हैं, और फिर उनके अनुरूप मनुष्य में हेर-फेर करने की पहल करते हैं। वे शब्दों, शास्त्रों, सिद्धांतों के वस्त्रों के ऐसे प्रेमी हैं कि उनके लिए मनुष्य को अंग-भंग करने में भी नहीं सकुचाते हैं। वस्त्रों में तो किसी भांति की काट-छांट की ही नहीं जा सकती है, इसलिए फिर मनुष्य में ही काट-छांट करनी पड़ती है। उनके बनाए हुए वस्त्र यदि ठीक नहीं आते हैं तो इसमें वस्त्रों का क्या कसूर है--कसूर है तो आदमी का है! वह ऐसा क्यों है कि वस्त्रों के अनुरूप नहीं हैं। उसे वस्त्रों के अनुरूप होना ही पड़ेगा, तभी तो वह ठीक मनुष्य हो सकता है। मनुष्य का यह सुधार चल रहा है, हजारों वर्षों से यह परिष्कार चल रहा है। और जो हुआ है परिणाम, वह प्रत्यक्ष है। मनुष्य विकृत और अस्वस्थ हो गया है। इस विकृति व अस्वास्थ्य को देखकर

सुधारकों का जोश और बढ़ जाता है। और वे अपने सेवा कार्य में और भी ज्यादा निर्ममता से संलग्न हो जाते हैं।
सिद्धांतवादियों ने जैसी हिंसा और दुष्टता के प्रमाण दिए हैं, वैसे अन्यत्र पाने असंभव हैं। शायद वह चित्त की हिंसा की वृत्ति ही हो जो कुछ विक्षिप्त व्यक्तियों को सिद्धांतों और वादों की आड़ में खड़ा कर देती हो। क्योंकि वहां ऐसी वृत्ति को बिना किसी भय के पूर्ण अभिव्यक्ति दी जा सकती है और साथ ही साथ आदर भी पाया जा सकता है। मनुष्य के सुधारकों और शास्ताओं से ज्यादा उपद्रवी व्यक्ति कोई नहीं हुए हैं। और सबसे बड़ा उपद्रव जो उन्होंने खड़ा कर दिया है, वह हैः मनुष्य में चुनाव का। पूरे मनुष्य की अस्वीकृति का। मनुष्य में द्वंद का। वे शास्ता और सुधारक यदि आत्मवादी हैं तो उन्होंने मनुष्य के शरीर की अस्वीकृति की शिक्षा दी है। उसके प्रति शत्रुता सिखाई है, या यदि वे बहुत विनम्र हुए तो उपेक्षा सिखाई है। और यदि वे विचारक भौतिकवादी हुए तो उन्होंने आत्मा के प्रति आंखें बंद कर देने की वृत्ति को बल दिया है। उन्होंने जीवन को शरीर से जोड़ने की कोशिश की है। और आत्मा की ओर उड़ान के सारे पंख काट दिए हैं।
इन दो प्रकार के गुरुओं के बीच मनुष्य बुरी तरह पिस गया है। उसका सारा संताप, चिंता और अर्थहीनता इन्हीं दो अतियों के बीच उसके चित्त को खींचे जाने से पैदा हुई हैं। इन अतियों ने उसके जीवन रस को चूस डाला है।
चिंता और संताप के किन्हीं क्षणों में कोई व्यक्ति जागता भी है तो एक अति से दूसरे अति पर चला जाता है। वह कुएं से बचता है तो खाई में गिर जाता है। भौतिकवादी, अध्यात्मवादी हो जाते हैं; और अध्यात्मवादी, भौतिकवादी हो जाते हैं। व्यक्ति ही नहीं, पूरी सभ्यताएं और समाज और राष्ट्र भी ऐसी अतियों में डोलते रहते हैं। थोड़े से व्यक्तियों ने भले उस मध्य बिंदु को पा लिया हो जहां कि जीवन का संगीत पैदा होता है, लेकिन अभी तक कोई भी संस्कृति उस संतुलन को नहीं पा सकी है। समाज के तल पर संतुलन अब तक स्वप्न ही है।
एक कहानी मुझे स्मरण आती है। एक बादशाह बीमार पड़ा था। उसकी बहुत चिकित्सा की गई लेकिन वह स्वस्थ न हो सका। अंततः चिकित्सकों ने जवाब दे दिया। फिर एक फकीर को बुलाया गया। उस फकीर ने कहाः ‘सम्राट ठीक हो जाएगा। लेकिन उसे किसी समृद्ध और सुखी व्यक्ति के कपड़े पहनने होंगे। यदि तुम ऐसे कपड़े पा सको तो संध्या के पूर्व ही तुम पाओगे कि वह ठीक हो गया।’
राजमहल खुशी से भर गया। यह कोई कठिन इलाज न था। उस राजधानी में समृद्ध
और सुखी लोगों की क्या कमी थी? सम्राट के वजीर नगर के सबसे बड़े धनपति के पास गए। उस धनपति ने कहाः ‘सम्राट को बचाने के लिए मैं अपने प्राण दे सकता हूं लेकिन मेरे वस्त्र काम न कर सकेंगे क्योंकि मैं समृद्ध हूं लेकिन सुखी नहीं हूं।’ फिर तो वजीर एक महल से दूसरे महल गए और यही उत्तर उन्हें मिला। संध्या तक वे बिल्कुल निराश हो गए। इलाज जितना आसान मालूम हुआ था, उतना आसान नहीं था। राजधानी पर जब रात्रि उतरने लगी तब वे वापिस लौटे। वे अत्यंत शर्मिंदा थे और सम्राट से लौट कर क्या कहेंगे, यह उन्हें समझ में ही नहीं आ रहा था।
तभी राजमहल के पीछे बहती नदी के दूसरी तरफ से किसी के बांसुरी बजाने
की आवाज सुनाई पड़ी। उस आवाज में सुख की सुवास थी। उन्होंने सोचाः चलो, आखिरी बार इस बांसुरी बजाने वाले से भी पूछ लें। हो सकता है, इस व्यक्ति को सुख उपलब्ध हो गया हो। वे नदी पार करके उसके पास गए। अंधेरे में कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता था। एक चट्टान पर बैठे उस व्यक्ति से उन्होंने अपनी प्रार्थना दुहराई। वह व्यक्ति बोलाः ‘मैं सम्राट को बचाने के लिए अपने प्राण दे सकता हूं। सुख भी मैंने जाना है। लेकिन शायद अंधेरे में आप को दिखाई नहीं पड़ रहा है कि मैं बिल्कुल नग्न हूं और मेरे पास वस्त्र नहीं हैं।’
उस रात वह सम्राट मर गया क्योंकि उस नगर में एक भी पूरा व्यक्ति उपलब्ध नहीं हो सका।
यह कहानी आज पूरी मनुष्यता पर दुहरने को है। मनुष्यता भी बचेगी नहीं, यदि हम सुख और समृद्धि के बीच, आत्मा और शरीर के बीच, धर्म और विज्ञान के बीच, और पूर्व और पश्चिम के बीच कोई सेतु नहीं खोज पाए। मनुष्य को उसकी

समग्रता में, उसकी आत्म-दैहिक एकता में, तृप्ति देनी है। तभी वह स्वस्थ हो सकता है। ऐसी संस्कृति चाहिए, जो उसे उसकी पूर्णता (टोटैलिटी) में अंगीकार करती हो। उसकी पूर्णता की सहज स्वीकृति में ही जो उसके जीवन को गति देना चाहती हो। जो उसे तोड़ती न हो और जो उसे आत्म-द्वंद्व और कलह से न भरती हो। जो उसके अंतर-बाह्य को संगीत दे सके। जो उसके अंतर-बाह्य को एक ही जीवन के दो पहलू मानती हो--दो विरोधी तत्व नहीं, वरन एक ही गीत की दो पूरक कड़ियां। क्या यह नहीं हो सकता है?
मैं यही पूछना चाहता हूं-
वह सम्राट क्यों मर गया था?
यह मनुष्य क्यों मर रहा है?

2 वह तो बस है!

धर्म हारता हुआ प्रतीत होता है।
अधर्म जीतता हुआ प्रतीत होता है।
क्यों?
शायद इसलिए ही कि धर्म की शक्तियां आपस में ही विभाजित हैं।
धर्म अनेक हैं। अधर्म एक है। शायद इसलिए ही धर्म पराजित है।
धर्म भी एक हो तो यह पराजय असंभव है। लेकिन धर्मों के कारण धर्म एक कैसे हो सकता है?
धर्मों का अंत ही धर्म का जन्म बन सकता है।
फिर मुसलमान, ईसाई, जैन, बौद्ध; इन शब्दों और संप्रदायों के कारण ही उसका जन्म नहीं हो पाता है जो कि धर्म है।
धर्म-संगठन ही धर्म के मार्ग में अवरोध हैं। क्या धर्म की संगठनों (ऑर्गनाइजेशन) से मुक्ति नहीं हो सकती है?
वैसे धर्म का संगठन से संबंध ही क्या है?
धर्म तो अत्यंत वैयक्तिक अनुभूति है। वह तो साधना है, संघठना वह नहीं है।
धर्मशास्त्र भी धर्म के लिए जंजीर हैं। उनकी सीमाओं में असीम को बांधने की कोशिश व्यर्थ तो है ही, अनर्थ भी है।
शब्द में निशब्द को कैसे बांधा जा सकता है? और बोलते ही उसकी हत्या हो जाती है तो इसमें आश्चर्य क्या है!
धर्म का न कोई शास्त्र है, न हो सकता है।
धर्मानुभूति का द्वार शब्द तो नहीं है, उस का द्वार है मौन। जहां सब शब्द शून्य हो जाते हैं, शब्द की लहरें जहां नहीं हैं, वहीं धर्म का सागर है।
धर्मगुरु धर्म के शत्रु हैं।
धर्म जिसे उपलब्ध होता है, उससे वह वैसे ही विकीर्ण होता है जैसे सूर्य से प्रकाश या फूल से सुगंध। वह किसी का गुरु नहीं बनता है। गुरु होने का अहंकार उसमें नहीं हो सकता है क्योंकि जहां अहंकार है वहां धर्म कहां?
धर्मतीर्थ कहीं भी नहीं है क्योंकि जो भी है सभी में प्रभु का वास है। इसलिए सभी कुछ तीर्थ है और सब जगह उस का मंदिर है। उसके इस विशाल मंदिर के प्रति जो अंधे हैं, वही अपने-अपने छोटे-छोटे मंदिर निर्मित करने के पागलपन में पड़ते हैं। फिर इन मंदिरों में झगड़ा स्वाभाविक है क्योंकि उनके निर्माताओं का अहंकार यह स्वीकार नहीं कर सकता है कि उनके मंदिर के अतिरिक्त भी कोई और मंदिर परमात्मा का है।
मित्रो, मैं प्रार्थना करता हूं कि मंदिरों को छोड़ो ताकि उसके मंदिर
के तुम्हें दर्शन हो सकें। शास्त्रों को छोड़ो ताकि उसका शास्त्र तुम्हें दिखाई पड़ सके। और संप्रदायों को छोड़ो ताकि तुम धर्म को पा सको।
वह तो अत्यंत निकट है लेकिन हम अपने ही हाथों स्वयं को उससे दूर किए हुए हैं।

वह निकट ही नहीं--निकट से भी निकट है।
वह हमारी सत्ता है।
वह हम स्वयं हैं।
लेकिन हम उसे दूर खोजते हैं और इसलिए खो देते हैं।
काशी में या काबा में, राम में या कृष्ण में, बुद्ध में या महावीर में; लेकिन कोई भी उसे स्वयं में नहीं खोजता है।
कैसी विडंबना है!
वह काबा में भी है काशी में भी, राम में भी कृष्ण में भी, लेकिन जो उसे स्वयं में ही नहीं पाता है, वह उसे कहीं भी नहीं पा सकता है।
और जो उसे स्वयं में पा लेता है वह उसे अनिवार्यतः सब में पा लेता है।
लेकिन उसे स्वयं में पाने के लिए राम और कृष्ण से, बुद्ध और महावीर से मुक्त होना अत्यंत आवश्यक है।
यह उनके प्रति अनादर नहीं है बल्कि यही आदर है। क्योंकि ऐसे ही उन जैसा होने की संभावना का द्वार खुलता है।
धर्म सबको छोड़ स्वयं पर आता है।
और स्वयं पर आते ही आश्चर्यों का आश्चर्य घटित होता है। क्योंकि स्वयं पर आते ही स्व मिट जाता है। फिर जो बचता है वही सत्य है। वह न स्व है, न पर है। वह तो बस है।

(मैसेज नामक पांडुलिपी में शीट नम्बर दो में यह लिखा है- किसी लेख की अंतिम आधी सामग्री है।)

था क्योंकि धार्मिक व्यक्तियों में सोच-विचार इतनी दुर्लभ बात जो है। मैं उस व्यक्ति को एक अपवाद समझ रहा था, लेकिन फिर उसने जो कहा था, उससे मेरा वह स्वप्न एक क्षण में ही खंडित हो गया था। वह बोला था: ‘महाराज, पर जीवित तीर्थ कहां है? मैंने तो सुना नहीं, शास्त्र-पुराण में भी पढ़ा नहीं। फिर भी आप कहते हैं तो मैं वहां जाने तैयार हूं। मुझे तो पाप धोने से काम है। गंगा में नहाना है, कोई घाट तो गिनने नहीं है।’
मैं आपके भी प्रेम के भीतर खोजने और पवित्रता के तीर्थ में स्नान करने को कहूंगा। लेकिन आप भी कहीं वैसा ही मत समझ लेना, जैसा कि मेरे उस मित्र ने समझ लिया था।
प्रेम परमात्मा का मंदिर है।
और सत्य जीवन ही धर्मतीर्थ है।

हेनरी फोर्ड मृत्यु शैया पर था। एक वृद्धा ने उससे पूछा: ‘हेनरी, क्या तुमने ईश्वर और स्वयं के बीच शांति स्थापित कर ली है?
यह सुन मृत्यु के द्वार पर खड़े उस व्यक्ति ने कहा था: देवी, हम आपस में कभी झगड़े हों, ऐसा मुझे याद नहीं आता है।